

भगवत्ता पैली सुब ओर



भगवत्ता फैली सब ओर

(कुन्दकुन्द-वाणी)

महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर

श्री जितयशाश्री फाउंडेशन, कलकत्ता

भगवत्ता फैली सब ओर

‘अष्टपाहुड’ पर महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभसागर के प्रवचन

श्री अमरचन्द्र कोठारी, कलकत्ता द्वारा
साहित्य-विस्तार योजना के
अन्तर्गत प्रकाशित

प्रकाशक :

श्री जितयशाश्री फाउंडेशन,
६-सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट,
कलकत्ता-७०० ०६९

प्रकाशन-वर्ष : १९९१

मूल्य : दस रुपये

अवतरण : श्री माणक मोट मरिण
श्री राजन्द्र गैरोला

छायांकन : श्री महेन्द्र भंसाली

मुद्रक :

भारत प्रिण्टर्स (प्रेस)
जालोरी गेट, जोधपुर.

भगवत्ता फैली सब ओर

१

जिएं जीवन-का-दर्शन

५ अगस्त १९९१, ऋषिकेश

कुन्दकुन्द-सूत्र

दंसराभट्टो भट्टो,
दंसराभट्टस्स रात्थि राव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा,
दंसराभट्टा रा सिज्झंति ॥

यह जीवन एक गहरा रहस्य है। समस्या और रहस्य में काफी फर्क है। समस्या तो वो होती है जिसका कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई अन्त होता है और रहस्य वो होता है जिसे न तो ज्ञेय बनाया जा सकता है और न जिसकी सीमा ढूँढी जा सकती है। इसलिए रहस्य अनन्त है, अन्तहीन खोज है। जीवन समस्या नहीं, रहस्य है। रहस्य को समस्या मान लेना ही अज्ञान है।

जीवन ऐसा रहस्य है जिसमें केवल जिया जा सकता है। न तो किताबों से और न ही किसी मार्गदर्शक से इसमें डूबा जा सकता है। जीवन को तो व्यक्ति खुद ही जीकर समझता है।

जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ,
मैं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ।

जीवन को समझने का एकमात्र आधारसूत्र यही है कि तुम कितने गहरे तक पैठ रहे हो। यहां ऊपर-ऊपर जीने से कुछ नहीं मिलता। ऊपर-ऊपर जीने से तो जीवन समस्या बन कर रह जाएगा। जीवन के भीतर उतरिये, अन्तर्जगत में पैठिये तो जीवन से बढ़कर रहस्य और कोई हो नहीं सकता। रहस्यों को केवल जीकर समझा जा सकता है। जितना जियोगे, रहस्य की गहराइयां उतनी ही आत्मसात करते चले जाओगे। इसके विपरीत यदि ऊपर-ऊपर ही घूमते रहे तो सागर तक चले तो जाओगे मगर खाली हाथ ही लौटोगे।

कोई आदमी सागर तक जाकर आ जाए और कहे कि 'मैंने सागर देख लिया है', वह झूठ बोलता है। उसने सागर

को नहीं देखा । उसने केवल सागर की लहरें देखी हैं । लहरों को देखना तो केवल जीवन के संघर्ष को देखना है । युद्ध और वैमनस्य को देखना है । लहरें सागर नहीं हैं । वे तो केवल ऊपरी सतह हैं । ऊपर-ऊपर से देखना तो केवल मन का पागलपन है, नादानी है ।

सागर को देखकर आपको यह संतोष तो हो जाएगा कि सागर देख लिया, मगर जब तक हमने सागर के खारे पानी को नहीं चखा, हम उसकी गहराई में नहीं गए, तो मोती भी नहीं पा सकेंगे । सागर में तो ठीक वैसे ही घुल जाना पड़ता है जैसे पानी में नमक घुल जाता है । इसीलिए तो कहा गया— 'विसर्जन ही है सर्जनहार', इसमें जितना अधिक डूबोगे, उतना अधिक तुम्हारा स्वयं का निर्माण होगा ।

जीवन के निर्माण के लिए आखिर हमें अपने जीवन का भी तो बलिदान करना पड़ेगा । केवल यह सोचते रह जाओगे कि हमने 'इतनी' किताबें पढ़ लीं, इसलिए हमें 'सब कुछ' मिल जाएगा तो तुम गलती पर हो । किताबों से केवल जानकारी मिल सकती है, सूचना-इनफोरमेशन मिल सकती है, ज्ञान नहीं मिल सकता । 'ज्ञान' तो वह है जिसका स्वाद व्यक्ति ने स्वयं के अनुभव से चखा है । स्वाद के बारे में पढ़ लेना और बात है, जबकि स्वाद को चख लेना और बात है । केवल जानकारी से कुछ नहीं होता, उसका अनुभव भी तो होना चाहिए । स्वाद चखना ही तो जीवन की जीवंतता है । स्वाद नहीं चख रहे हो तो जीवन केवल बिता रहे हो, उसका अनुभव नहीं पा रहे हो ।

एक ज्ञान तो वह है जिसका सम्बन्ध अनुभव से जुड़ा है और एक ज्ञान वह है जिसका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है केवल बुद्धि के पाण्डित्य से। दुनिया में पंडितों की कमी नहीं है, लेकिन अनुभव करने वाले विरले ही होते हैं—

अहले दानिश आम हैं, कामयाब हैं अहले नजर,
क्या तआज्जुब कि खाली रह गया तेरा अयाग।

दुनिया में शास्त्रों के जानकार तो बहुत हैं मगर अपने भीतर की आंख को खोल लेने वाले, भीतर को संजोने वाले कम हैं। सचमुच ! ऐसे लोग विरले ही होते हैं। केवल किताबों से ही स्वयं को भरते चले जाओगे तो पंडित हो जाओगे और 'पंडित' के पास कभी 'ज्ञान' नहीं फटकता। उसके पास केवल पाण्डित्य का अहंकार होता है। अहंकार को पल्लवित कर लेना एक बात है और अपने भीतर ज्ञान से विनम्रता ले आना दूसरी बात। पंडित डींग हांक सकता है, लेकिन एक अनुभवी आदमी डींग नहीं हांकेगा, वह चर्चाएं करेगा। वो उपदेश नहीं देगा, वह बिना मतलब किसी को सलाह देता नहीं फिरेगा, वह लोगों से नेक सलाह लेने की कोशिश करेगा।

किसी को उपदेश देना और सलाह बांटना मुझे पसंद नहीं है। असल में उपदेश और सलाह किसी को देने जैसी चीज होती ही नहीं। इनका सम्बन्ध तो केवल भीतर जीने से है, रहस्यों में जीने से है।

जीवन के मार्ग से तो हर कोई गुजरता है। हम सभी गुजरते हैं। जिस राह से कृष्ण गुजरे, जिस राह से महावीर

गुजरे, हम भी उसी राह से गुजर रहे हैं क्योंकि जीवन का स्रोत तो सभी का एक ही है। उसमें कहीं अन्तर नहीं है। सभी मां के उदर से ही आ रहे हैं। न तो भगवान आकाश से टपकते हैं और न हम पाताल फोड़कर बाहर निकलते हैं। जीवन के स्रोत सबके एक जैसे हैं।

जीते सभी हैं। जीवन के मार्ग से गुजरते सभी हैं, मगर अनुभव बटोरने वाले कुछ ही लोग होते हैं। अधिकांश लोग तो खाली हाथ ही गुजर जाते हैं। फूल तो खिलते हैं, क्योंकि उनका काम ही खिलना है। ढेर सारे फूल खिलते हैं और मुरझा जाते हैं। समझदार आदमी तो वह होता है जो फूलों की डेरी को सुई-धागे की मदद से पिरो कर माला बना लेता है, मगर उससे भी अधिक समझदार आदमी वह होता है जो इन फूलों का इत्र निकालने में सफलता हासिल कर लेता है।

इसलिए केवल अनुभव पा लेना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें संग्रहित कर संपादित कर लेना भी जरूरी है। ऐसा आदमी प्रज्ञाशील है। माला तो कोई भी बना लेगा, मनीषी तो वह है जो उन फूलों में छिपी खुशबू और इत्र को निकाल लेता है। एक हजार फूलों की एक माला बनी। उस माला से एक बूंद इत्र निकाल लिया, यही तो अनुभवों की सार्थकता है। यही तो जीवन का सार है। मूल पाठ पढ़ना है। फूलों को एकत्र करना, उसकी माला बना लेना ही काफी नहीं है। उन फूलों को निचोड़ कर इत्र निकाल लेना ही असली काम है। 'सार-सार को गहि रहे, थोथा देई उड़ाय।' सार निकालना ही महत्वपूर्ण है, मूल्यवान है।

मनुष्य जीवन भर सीखता है। उसे अनुभव होते रहते हैं। जो लोग अनुभवों को बटोर लेते हैं, उनका सार निकाल लेते हैं, वे लोग इस संसार से पार हो जाते हैं और जो ऐसा नहीं कर पाते, वे जीवन का पाठ नहीं पढ़ पाते, वे मर-मरकर पुनः इसी संसार की पाठशाला में भेज दिए जाते हैं। पुनर्जन्म का यही तो रहस्य है। तुमने जीवन का पाठ ढंग से नहीं पढ़ा, जाओ! दुबारा पढ़कर आओ। और, जिसने जीवन का पाठ पढ़ लिया वह पार हो गया।

आदमी सार एकत्र करे और दुनिया में बांट दे। आपके बच्चे ने गलती की। आपने उसे डांट दिया। क्या कभी यह ख्याल आया कि रात को सोने से पहले बच्चे को अपने पास बुलाकर कहा हो कि देख बेटे! मैंने 'इस' क्षेत्र में जीवन में 'यह' अनुभव पाया है। तुम इससे सीख लो और जो दुःख मुझे भोगने पड़े, उनसे बचो। आदमी यहीं गलती करता है। वह अपने अनुभव न तो अपने पुत्रों में बांटता है और न ही मित्रों में। बांट इसलिए नहीं पाता क्योंकि अपने अनुभवों के प्रति अभी उसका कोई दृष्टिकोण ही नहीं बन पाया है। जीवन में कदम-कदम पर ठोकरें लगती हैं, आदमी को अनुभव होते हैं, मगर उनके बारे में उसका कोई स्पष्ट दृष्टिकोण नहीं बन पाता और यही कारण है कि बटोरे गए अनुभव निरर्थक चले जाते हैं।

आदमी ने अभी तक अनुभव बटोरे ही कहां हैं? बीस साल पहले क्रोध किया। कल भी क्रोध किया। आज भी क्रोध कर रहे हो। हमने बीस साल पहले क्रोध में भरकर खिड़की का शीशा तोड़ा था; आज भी एक शीशा तोड़ दिया। शीशा

तोड़ने से नुकसान हुआ, मगर हमने अनुभव नहीं बटोरा। अनुभव तो कदम-कदम पर दस्तक देते चले जाते हैं मगर हम उनके प्रति सचेत न हों तो यह हमारी लापरवाही है।

आदमी को अपने ही बनाए घेरे से ऊपर उठने की चेष्टा करनी चाहिए। जीवन रहस्य है, उसे समस्या मत बनाओ। यह तो उतना गहन रहस्य है कि इसे सिर्फ जिया जा सकता है और जीने का अर्थ जीने का अनुभव करना है। अनुभव से जीवन को सार्थक कर पाओगे, और कोई रास्ता ही नहीं है, जीवन तभी बच पाएगा।

अध्यात्म का अर्थ यह नहीं है कि किसी महापुरुष के सूक्ति वाक्य पढ़ लिए, या किसी का जीवन चरित्र पढ़ लो। जीवन का असली अध्यात्म यही है कि व्यक्ति अपने जीवन के अनुभवों को कितना पढ़ता है। महापुरुष की आत्म-कथा भले ही सौ बार पढ़ लो, जीवन में कोई क्रांति घटित न होगी। शिक्षा मिलेगी उससे, पर क्रान्ति नहीं। कभी अपनी स्वयं की आत्म-कथा को पढ़ने का प्रयास किया है? आदमी सुबह उठता है। नित्य कर्मों से फारिग होता है। भोजन करता है। दूकान चला जाता है। वापस घर आ जाता है। खाना खाकर सो जाता है। जरा विचार करो क्या यही जीवन का निष्कर्ष है? यह तो धोबी के गधे की यात्रा हो गई। घर से घाट और घाट से घर।

पैदा हुए। जवान हुए। विवाह हो गया। संतान हो गई। दो-चार लाख रुपए कमा लिए। जीवन समाप्त हो गया, निष्कर्ष क्या निकला? जीवन का सार क्या निकला? एक अनपढ़ हमारे मकान के निर्माण में जुटा है वह भी आप ही की

तरह जी रहा है। आपने एम० ए० की डिग्री ली थी, उसका क्या हुआ ? ज्ञान का उद्देश्य केवल डिग्री हासिल करना या आजीविका हासिल करना नहीं है। ज्ञान बेचने-खरीदने का गणित नहीं है। वह जीने की कला सिखाता है।

अनुभव का अर्थ स्वाद चखना है। जो आदमी स्वाद को चख लेता है वह समझ जाता है। कहते हैं दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता है, क्योंकि देखने में दोनों सफेद होते हैं। यह अनुभव का शास्त्र है।

एक आदमी पहली बार समुद्री जहाज पर यात्रा के लिए सवार हुआ। अपनी कुर्सी पर जाकर बैठने से पूर्व उसने जहाज के कप्तान-चालक से पूछा—‘क्यों भाई साहब ! आपने पेट्रोल वगैरहा पूरा भरवा लिया है ना ?’ चालक चौंका। उसने संभलकर जवाब दिया—‘हां।’ वह व्यक्ति थोड़ी देर बाद फिर चालक के पास पहुँचा। जहाज तब तक रवाना नहीं हुआ था। उसने पूछा—‘चालक साहब ! आपने जहाज के इंजन वगैरहा तो जांच कर लिए हैं ना ?’ अब चालक को गुस्सा आ गया। वह बोला—‘चालक आप हैं या मैं ? मैंने सब जांच कर ली है। सब ठीक-ठाक है। आप जाइए अपनी जगह बैठ जाइए।’ वह आदमी बोला—‘नाराज मत होइए ! दरअसल मैंने आज तक बसों में ही सफर किया है। बसों वाले अक्सर रास्ते में यह कहकर नीचे उतार देते हैं ‘डीजल खत्म हो गया’, ‘इंजन में खराबी आ गई है।’ और फिर कहते हैं—‘धक्के लगाओ। इसलिए मैं निश्चित होना चाहता हूँ कि आप मुझे धक्का लगाने को तो नहीं कहेंगे।’

देखा ! व्यक्ति जानता है कि यदि जहाज रास्ते में खराब हो भी जाए तो भी उसे नीचे उतरकर धक्का नहीं लगाना पड़ेगा, मगर चूँकि वह 'दूध से जला हुआ है, इसलिए छाछ को भी फूंक-फूंककर पीना चाहता है। यह अनुभवों का शास्त्र है।'

विज्ञान में जितना महत्व प्रयोग का है, अध्यात्म में उतना ही महत्व अनुभव का है। विज्ञान के प्रयोग अनुभव हैं और अध्यात्म के अनुभव प्रयोग। उसी अनुभूति की गहराई में एक साधक डूबा हुआ है। यह साधक जंगलों के बीच गुफा में बैठा है और वहाँ से अपने भीतर की आवाज हमारे लिए हवा के मार्फत भेज रहा है। एक ऐसी अनुभूति जो शायद एक साधक के लिए जन्म-जन्मान्तर की अनुभूति हो सकती है। हम जिस साधक की बात कर रहे हैं वे अनुभवों की खान हैं। ऐसा साधक शायद ही कोई हुआ होगा। ये साधक हैं अध्यात्म की गहराइयों में उतरने वाले कुंदकुंद।

कुन्दकुन्द की गहराइयां इतनी हैं कि हम उसे किसी भी सम्प्रदाय या मत-मजहब से पार नहीं कर सकते। उस साधक के साथ सबसे बड़ा अन्याय यही हुआ कि उसे एक मत-मजहब के साथ बांध दिया गया। जो आदमी अध्यात्म में जीता है, भला वह किसी सम्प्रदाय का हो सकता है? सम्प्रदाय का राग आप अलाप सकते हैं, लेकिन एक साधक कभी ऐसा नहीं कर सकता। आखिर तो सम्प्रदाय का राग भी 'राग' ही है।

परिवार को छोड़ना सरल है लेकिन सम्प्रदाय के राग को छोड़ना कठिन है। व्यक्ति के लिए संसार का राग और सम्प्रदाय का राग समान रूप से बन्धनकारी है। व्यक्ति को धार्मिक बनना है, साम्प्रदायिक नहीं होना है। जहां धर्म की बजाय सम्प्रदाय को फैलाने की बातें होती हैं, वहां झूठ और फरेब हैं। हिन्दुस्तान की तो बदकिस्मती यही रही है कि यहाँ धर्म तो समाप्त होता चला जा रहा है और सम्प्रदाय फलते-फूलते जा रहे हैं। आज दुनिया में सम्प्रदाय-ही-सम्प्रदाय नजर आते हैं।

आदमी सारी डुबकियां सम्प्रदाय में ही लगा रहा है। वास्तविक स्नान से वह अभी अछूता है। आदमी अनुभव कर रहा है, मगर उन्हें बटोर नहीं रहा है। हर आदमी अपने-अपने बैल को बाड़े में बांधना चाहता है और उसी में लगा है। हर गुरु का भी यही उद्देश्य होता है कि मेरे पास अधिकाधिक शिष्य हों। शिष्य बनने वाला तो धोखा खा ही रहा है, गुरु भी अपने आपको धोखा दे रहा है। वास्तविक गुरु का उद्देश्य किसी को अपना शिष्य नहीं, अपितु गुरु ही बनाना होता है। शिष्य को शिष्य बनाकर क्या बड़ा काम किया। तुम्हारे पास आने वाले को तुम वही बना दो, जो तुम खुद हो। उसे अपने पर आधारित मत रखो। तुम उसे केवल चलना सिखा दो। आगे बढ़ने का काम उस पर छोड़ दो। वह अपनी किस्मत के सहारे खुद आगे बढ़ लेगा।

अनुभव का शास्त्र ही ऐसा है। यह अनुभूति का जगत है, भीतर के प्रयोगों का जगत है। अध्यात्म तो यही कहेगा कि तू पूर्ण है तो दूसरों को भी पूर्ण बना। यदि तू

अधूरा है तो किसी अधूरे में हाथ मत डाल । तू तो डूबेगा ही, साथ में उसे भी ले डूबेगा, जो तेरे पास पार होने की आस लेकर आया है । यदि तू हकीकत में अभी तक गुरु नहीं बना है, अध्यात्म को अपने जीवन में नहीं उतारा है, तो पहले अपने में सुधार ला ।

कुन्दकुन्द का शास्त्र अनुभव का शास्त्र है । उनका शासन ज्योतिर्मय दीप का शासन है । इसलिए कुन्दकुन्द का अध्यात्म अन्धेरे में खींची रेखाएँ नहीं हैं, वरन् अन्तर की आँख से निपजा दर्शन है । अध्यात्म में उनकी पहुँच और उनकी भगवत्ता बहुत गहरी है । ऐसे आचार्य कभी-कभार ही होते हैं धरती पर । उन्होंने जो कहा है, उसे जिया है । इसलिए मैं भी यह सलाह दूंगा कि उन्हें सुनना ही काफी नहीं है । इसलिए जिओ । जब तक जरूरत लगे कुन्दकुन्द का उपयोग करना । वहाँ कुन्दकुन्द की जरूरत नहीं रहेगी जब तुम स्वयं कुन्दकुन्द बन जाओगे, कुन्दन बन जाओगे ।

कुन्दकुन्द के लिए दर्शन का महत्त्व है । उनका दर्शन बुद्धिजीवियों की फिलोसोफी नहीं है । उनका दर्शन तो आँख है, हृदय की आँख है । आत्म-दृष्टि ही कुन्दकुन्द का दर्शन है । इसलिए यहाँ हृदय लाओ । हृदय में ही उतारा जा सकता है कुन्दकुन्द के अनुभवों को, अध्यात्म के रस को । मेहरबानी कर उन्हें सुनते वक्त अपनी पण्डिताई बीच में मत लाना । उनके वक्तव्य आत्मा की आवाज है और आत्म-भाव से ही उस आवाज को सुना जा सकता है । बुद्धिजीवी या कट्टरपंथी उनकी क्रांति को बर्दाश्त नहीं कर पाएगा । उनके वक्तव्य आम आदमी के लिए है भी नहीं । कुन्दकुन्द का उपयोग

मुमुक्षुओं के लिए है। उन मुमुक्षुओं के लिए जो वासना मुक्त निर्वाण मार्ग के इच्छुक हैं।

अगर मैं कुन्दकुन्द पर बोल रहा हूँ तो इसका एक मात्र कारण यही है कि जैसा मैंने सत्य जाना है, वह बहुत कुछ अंशों में कुन्दकुन्द में भी विद्यमान है। कुन्दकुन्द ने भी एक प्रकार से महावीर को ही दोहराया है। बहुत बड़ा दिल कीजिएगा कुन्दकुन्द की क्रांति स्वीकार करने के लिए। जिस 'अष्ट पाहुड़' से मैं कुन्दकुन्द की आठ गाथायें ले रहा हूँ, वह एक प्रकार से क्रांति का अष्टक है। बहुत कुछ सम्भावना है कि वे विस्फोट करें, पर ऐसा करना जरूरी भी है। वही तो असली गुरु है, जो सामने वाले को असली गुस्त्व का स्वाद चखा दे। ऊपर-ऊपर से कहेंगे तो सुनने में तो अच्छा लगेगा, पर जीवन रूपान्तरण उससे न हो पाएगा। फिर तो नतीजा यह होगा कि तप भी करोगे और साथ-साथ क्रोध भी करते चले जाओगे। साधु भी बन जाओगे, पर वासना और लोकेषणा तब भी बनी रहेगी। मन्दिर में भी जाओगे, वहाँ वीतरागता की उपासना न करके संसार की ही याचना करोगे।

और, कुन्दकुन्द जीवन मूल्यों में यह दोगलापन पसन्द नहीं करते। इसीलिए कुन्दकुन्द इस बात की तो कल्पना कर सकते हैं कि चारित्र्य से गिरा हुआ आदमी मुक्त हो सकता है किन्तु भीतर के भावों में गिरा हुआ आदमी निर्वाण नहीं पा सकता।

दंसणभट्टो भट्टो, दंसण भट्टस्स एत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥

जो दर्शन से भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट है। दर्शन-भ्रष्ट को निर्वाण नहीं होता। चारित्र्य भ्रष्ट सिद्ध हो सकते हैं, पर दर्शन-भ्रष्ट नहीं।

लगता है कुन्दकुन्द कोई कब्र खोद रहे हैं जिसमें बूरी जा सके व्यक्ति की अन्धी मान्यताएं। उनके शब्द खतरनाक लग रहे हैं, पर ऐसा किए बगैर निस्तार नहीं है। वे पहले मिटाएंगे और फिर बनाएंगे। एक ओर कब्र है और दूसरी ओर गर्भ है। कब्र मिटाने के लिए और गर्भ बनाने के लिए। नव निर्माण करना है तो खण्डहर को गिराना होगा, जर्जर को गिराना होगा। शैशव के द्वार पर दस्तक देना होगा। नए फूल की आशा हो, तो इस प्रक्रिया से गुजरना ही होगा।

कुन्दकुन्द के अध्यात्म का मूल-प्राण है दर्शन। दर्शन दृष्टाभाव है, दृष्टा का अन्तर्विवेक है, साक्षी का देखना है। इस देखने को बड़ी गहराई से लेना। स्वर्ग-नरक के नक्शों को देखना, कोई दर्शन नहीं है। मैंने कई घरों में स्वर्ग-नरक से लेकर मोक्ष तक के नक्शे देखे हैं। देखो तो बड़े प्रभावित हो उठोगे। वहां इंच-इंच का हिसाब लिखा है। मोक्ष कहीं और थोड़े ही है जो उसके नक्शे बना रहे हो। मोक्ष तो भीतर है, अपने ही अन्दर। यह भी क्या खास बात है कि स्वर्ग-नरक के तो नक्शे बनाए गए हैं पर अभी तक तो इस धरती और इस जीवन का भी सही नक्शा नहीं बना है। स्वर्ग-नरक तो मृत्यु के बाद की चीजें हैं। हमें चिन्ता लगी है मौत के बाद की। जीवन तो बगैर मार्ग के बीत रहा है।

आदमी दौड़ता है आकाश के तारों को अपने हाथों में लेने के लिए, मगर यह भूल जाता है कि पांव तो जमीन पर

टिके हुए हैं। अगर वह जमीन छोड़ देगा तो जाएगा कहां, तारे कोई एक-दो किलोमीटर दूर तो है नहीं कि गए और तोड़ लिए। आदमी अपने आसपास बिखरे तारे नहीं देख पाता, चकाचौंध के पीछे भागता है। जर्मी बेंथैम ने लिखा है—‘आदमी तारों को पकड़ने के लिए हाथ फैलाता है और अपने ही कदमों में उगे हुए फूलों को भूल जाता है।’

रोशनी की मूल सम्भावना तो व्यक्ति में है, व्यक्ति के व्यक्तित्व में है। यह मानवता के साथ भूल ही कही जाएगी, जहां व्यक्ति से रोशनी तो दूर कर दी गई है और उसे अन्धेरे में ला खड़ा किया है। एक बात ध्यान रखो कि अगर कहीं और रोशनी है तुम्हारे पास भी है। अगर तुम्हारे पास रोशनी नहीं है तो कम से कम तुम्हारे लिए तो कहीं भी रोशनी नहीं है।

दर्शन रोशनी है। एक धार्मिक होने का अर्थ यह कतई नहीं है कि तुम परलोक के प्रति विश्वासी हो या नहीं। यदि धर्म को मात्र संन्यस्त जीवन से ही जोड़ने का प्रयास करेंगे या मोक्ष या निर्वाण के लिए यह कहेंगे कि बगैर साधु-मुनि बने मुक्ति नहीं हो सकती, तो यह धर्म और मुक्ति का सार्वजनिकता का दमन होगा। अब कोई सारा संसार तो संन्यासी होने से रहा। सभी लोग साधु बन कर जंगल में नहीं बैठ सकते और अगर बैठ गए तो दुनिया में कोई जंगल बचेगा ही नहीं। तब तो जंगलों में भी शहर बन जाएंगे।

हमने जो धर्म का स्वरूप बना रखा है उसे पालन करना तो हर किसी के बस की बात नहीं रही है। जो रिटायर्ड लोग हैं, वे भले ही उसे पाल लें, फिर बच्चे और जवान कहां जाएंगे,

क्या धर्म उनके लिए नहीं है ? जीवन की मूल बुनियादों को शिक्षा, संस्कार, सेवा, सद्भावना और स्नेह से जोड़नी चाहिए। धर्म को हम सबके साथ जोड़े। बच्चे के लिए बच्चे का धर्म हो, युवक के लिए युवक का धर्म हो और बूढ़े-बुजुर्गों के लिए धर्म का अन्तिम सोपान हो। अगर ऐसा न हुआ तो धर्म बूढ़ा हो जाएगा और बूढ़ों के लिए ही रह जाएगा। धर्म वास्तव में एक सम्पूर्ण जीवन है, जीवन की सम्पूर्णता है। वह शिशु भी है, उसका शैशव भी है। वह युवा भी है, उसका यौवन भी है। वह वृद्ध भी है उसे बुढ़ापा भी घेरता है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, जीवन का दर्शन है।

दर्शन जीवन का वास्तविक दर्शन है। धर्म की मौलिकता दर्शन में है, जीवन को देखने और उसे जीने में है। जीवन जीने के लिए है, जब तक जिन्दा हो तब तक जिन्दा हो और जब तक जिन्दा हो तब तक तुम्हारी मृत्यु नहीं हुई है। जब तक मृत्यु न हो तुम्हें जीवित रहना है। जीते हुए जीवित रहना है। जीवंत होकर जीना है। दर्शन का यही जीवन है और यही जीवन का दर्शन है।

२

अज्ञान की स्वीकृति—ज्ञान की पहली किरण

६ अगस्त १९९१, ऋषिकेश

कुन्दकुन्द-सूत्र

सूई जहा असुत्ता
णासदि सुत्ते सहा णो वि ।
पुरिसो वि जो ससुत्तो,
ण विणासइ सो गअ्रो वि संसारे ॥

जहां प्रतिमाएं हैं, वे स्थान तीर्थ कहलाते हैं। हम वहां शीघ्र भुकाते हैं। इनके अलावा भी एक तीर्थ होता है जिसे मैं साधनापरक तीर्थ कहता हूँ। महावीर ने जो संघ बनाया, उसका नाम भी तीर्थ दिया गया। तीर्थ एक तो वे होते हैं जहां मन्दिर बनाए जाते हैं, दूसरे वे होते हैं जहां जन्म-जन्मान्तर से भीतर तीर्थ बना है। श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका—इन चारों के मिलने से जिस संघ का निर्माण हुआ उसे भी तीर्थ कहते हैं।

तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले को तीर्थकर कहा जाता है। प्रथम चरण श्रावक, दूसरा श्रमण। श्रावक वह जो सुनता है और श्रमण वह है जो सुनकर उसके अनुरूप आचरण करता है। श्रावक वह जो सत्संग में जाता है और प्रज्ञा-मनीषियों की वाणी सुनता है। श्रावक होना, श्रमण से पहले की स्थिति है। सुनना पहली शर्त है। जिसने सुना ही नहीं वो कैसे जान पाएगा कि सत्य क्या है? वह कैसे जान पाएगा कि किस मार्ग से कल्याण और किस मार्ग से पतन मिलेगा।

इसके लिए उन लोगों के पास जाना और उन्हें सुनना जरूरी है, जिन्होंने कुछ पाया है। उन लोगों के पास जाओ, जिनका दीया जला हुआ है। उन लोगों को जानने समझने का प्रयत्न करो, जिन्होंने ज्ञान का स्वाद चखा है। जितना अधिक सुन सकोगे, सत्य-असत्य और पुण्य-पाप को जानने का मार्ग प्रशस्त होगा।

ज्ञान पाने के दो तरीके हैं। पहला, स्वयं ज्ञान में प्रवेश कर जाओ या किसी ऐसे ज्ञानी को ढूंढ लो, जिसके सहारे

ज्ञान में प्रवेश कर सको। स्वयं के बलबूते पर प्रवेश की हिम्मत है, तो इसके मुकाबले तो कोई रास्ता ही नहीं है। लेकिन पांव में यदि बैसाखी के सहारे चलने की प्रवृत्ति है, तो किसी ज्ञानी का सहारा लेना ही पड़ेगा। किसी ऐसे दीए के पास जाकर बैठना ही होगा, जो ज्योतिर्मय है।

हम गुरु के पास इसलिए जाते हैं, क्योंकि हमारा दीया बुझा हुआ है और गुरु का दीया जला हुआ है। जलते दीए को देखकर ही बुझे दीए को जलने की प्रेरणा मिलती है। इसी का नाम ही तो सत्संग है। जीव का बोध कैसे हो? आत्मा को आत्मा का भान कैसे हो? चेतना को चेतना का पता कैसे चले, इसलिए तो सत्संग में जाते हैं। इसलिए उन लोगों के पास जाकर बैठो, रमो, नाचो, भूमो, गाओ, जिन लोगों ने कुछ पाया है।

जो हकीकत में 'श्रमण'/सत्य-द्रष्टा बन चुके हैं, उनके पास जाओ; उनके अनुभवों को सुनो। वे अपने अनुभव न बताएं तो भी उनके पास जाकर बैठो। उनके पास बैठने से भी सत्संग होगा। कमल खिल रहा है तो यह तो तय है कि आकाश में सूरज चमक रहा है। आकाश में सूरज चढ़ने पर कमल को खिलना ही पड़ता है। अगर आपके भीतर का कमल खिल रहा है, तो जान लेना कि गुरु में सूर्य जैसी चमक है। कमल जरूर खिलेगा।

आप जितनी गहरी जिज्ञासा लेकर जाएंगे, सत्य की उपलब्धि उतनी ही तीव्रतर होती चली जाएगी। सच्चाई को पाने के दो रास्ते हैं। पहला रास्ता है जिज्ञासा। जिज्ञासा

जितनी तेज होगी, हमारी खोज उतनी ही प्रशस्त और साफ-सुथरी होती चली जाएगी। दूसरा चरण है खोज। जिज्ञासा का अर्थ है सीखने-जानने की प्यास होना। प्यास इतनी तेज होनी चाहिए कि हमारी प्यास ही हमारे लिए पानी का बांध बन जाए। यह मत समझो कि प्यास कीमती नहीं है। प्यास और पानी बराबर महत्त्व के हैं। एक बात हमेशा याद रखिए, पानी का मूल्य प्यास के कारण है। जितनी अधिक तेज प्यास होगी, पानी का मूल्य उतना ही बढ़ता जाएगा। हमारी प्यास ही हमेशा प्रार्थना बनती है, ज्ञान की शुरुआत भी वहीं से होती है। जगा सको तो अपनी प्यास को जाग्रत करो। सामने पानी की टंकी रखी है। आपको प्यास नहीं है, तो उस टंकी का कोई महत्त्व नहीं है और यदि प्यास है तो चुल्लू भर पानी मिलने पर पीने वाला लाख-लाख धन्यवाद देगा।

पानी से अधिक कीमती चीज 'प्यास' है। परमात्मा मूल्यवान है, लेकिन उससे अधिक मूल्यवान है—हमारी स्वयं की प्रार्थना। प्रार्थना जितनी ज्यादा मूल्यवान होगी, प्यास जितनी सार्थक होगी, परमात्मा की मूल्यवत्ता उतनी ही साकार होती जाएगी।

रेगिस्तान के बीच से एक बस गुजर रही थी। गर्मी काफी तेज पड़ रही थी। लोगों के गले प्यास के मारे सूख रहे थे। ऐसा लगता था जैसे पानी नहीं मिला तो प्राण निकल जाएंगे। एक स्टाप पर बस रुकी तो लोगों ने इधर-उधर झांका, शायद कहीं पानी नजर आ जाए, मगर वहां सुनसान था। एकाएक एक आदमी एक बाल्टी लेकर बस में चढ़ा।

वह कह रहा था—‘पच्चीस पैसे का एक गिलास पानी।’ लोग उसे पच्चीस-पच्चीस पैसे थमाने लगे और पानी पीने लगे। एक आदमी ने कहा—‘भाई! तुम तो बहुत ज्यादा पैसे मांग रहे हो। ज्यादा से ज्यादा दस पैसे ले लो। मैं तो दस पैसे ही दूंगा।’ लड़का आगे बढ़ गया। जब वह बाल्टी खाली कर लौटने लगा तो वही आदमी बोला—‘लाओ! पन्द्रह पैसे ले लेना।’ लड़के ने कहा—‘अब तो आप एक रुपया दें तो भी मेरे पास पानी नहीं है।’ असल में उसने पानी की कीमत तो देखी, मगर अपनी प्यास को नहीं मापा, इसलिए अपनी प्यास नहीं बुझा पाया।

प्यास जितनी तेज होगी, पानी तक पहुंच उतनी ही प्रबल होगी और आप पानी ढूँढ़ निकालेंगे। आपकी प्रबलता रेगिस्तान में भी नखलिस्तान ढूँढ़ लेगी। असली मूल्य प्यास का है। जिज्ञासा का है। भीतर कहीं न कहीं, कोई न कोई लक्ष्य बना हुआ होगा तो ऐसा आदमी अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए दूर तक बिना किसी बाधा चला जाएगा और लक्ष्य भी माला लेकर उसका इंतजार करता मिलेगा। भीतर की ललक ही काम आती है। गंगा का पानी लेने लोग ऋषिकेश तक आते हैं मगर यह गंगा तो आपके गांव में भी बह रही है। असली मूल्य प्यास का है। मंदिर तो आपके गांव में भी है, फिर आप तीर्थ करने क्यों जाते हैं, इसलिए, ताकि हमारी प्यास और तेज हो जाए। हमारी प्यास को जो और तीव्र कर सके, वही तो तीर्थ है।

साधक वह है जो सुनता है। सुनने का अर्थ यह है कि वह अपनी प्यास को और तेज कर रहा है। गांधी के तीन

बंदर चर्चित हैं। पहला बन्दर सन्देश देता है कि 'बुरा मत देखो', दूसरा बन्दर कहता है 'बुरा मत सुनो', तीसरा बन्दर हमें सीख देता है कि 'बुरा मत बोलो'। आचार्य कुन्दकुन्द के रत्न त्रय भी इसी कोटि के हैं। वे कहते हैं तुम्हारा ज्ञान मिथ्या न हो, तुम्हारा आचरण गलत न हो। तुम्हारा ज्ञान सम्यग् हो, तुम्हारा आचरण भी सम्यग् हो।

जिसने बुरा देखा, वह बुरा सुनेगा और बुरा बोलेगा भी। इसलिए पहली जरूरत इस बात की है कि भीतर की प्यास जगाओ। हम सत्संग में इसीलिए तो जाते हैं। श्रवण ही ज्ञान का आधार है। बुरा न सुनना—सम्यग् ज्ञान, बुरा न देखना—सम्यग् दर्शन और बुरा न बोलना—सम्यग् चरित्र है। कुन्दकुन्द के वचन हैं—

“सूई जहा असुत्ता, णासदि सुत्ते सहा णो वि ।
पुरिसो वि जो समुत्तो, ण विणासइ सो गओ वि संसारे ॥”

सूई अगर घास के ढेर में या कचरे में गिर जाए तो कैसे निकालेंगे। उस सूई में यदि धागा लगा हो तो सूई ढूँढी जा सकती है। कुन्दकुन्द कहते हैं कि सूई में यदि धागा हो तो उसे ढूँढना आसान है। इसी तरह स्वाध्याय करते हो, सत्संग करते हो तो संसार में कहीं भी चले जाओ, आपकी सूई नहीं गुम होगी। वैसे ही ज्ञान-सूत्र में पिरोई आत्मा भी कहीं नहीं खोती। सत्संग से ही ज्ञान का, अस्तित्व का बोध होता है। यही मूल तत्त्व है।

साधक ज्ञान की खोज बाहर करता है। यही तो गलती करता है आदमी। ज्ञान तो स्वयं के भीतर है, मगर आदमी

बाहर ढूँढ़ रहा है। आपकी खोई हुई सूई मैं आपको पकड़ा देता हूँ, मगर आज के बाद ध्यान रखना कि यह तभी साथ रहेगी जब उसे ज्ञान के सूत्र में पिरोये रखोगे।

एक बहुत बड़े संत हुए हैं, रज्जब। जब वे हिन्दुस्तान आए तो गुरु की तलाश शुरू की। उन्हें संत दादू मिले। रज्जब ने तपस्या शुरू कर दी। दादू की सेवा करने लगे। विधि का विधान ऐसा हुआ कि रज्जब एक लड़की के प्रेम में पड़ गया। तपस्या भूल गया। उसने चुपके-चुपके उस लड़की से निकाह करने का निश्चय कर लिया। जब वह सेहरा बांधकर, घोड़ी पर चढ़कर निकाह के लिए जा रहा था तो रास्ते में दादू नजर आए। दादू ने रज्जब और रज्जब ने दादू की आंखों में भांका। दादू ने कहा—

‘रज्जब, तें गज्जब किया, सिर पर बांधा मौर।

आया था हरि भजन को, करै नरक का ठौर ॥’

रज्जब के हृदय में प्रकाश फूट पड़ा। अरे, मैं तो ज्ञान प्राप्त करने, तप करने आया था और कहां सांसारिकता से जुड़ने चला था। रज्जब ने उसी समय अपना सेहरा उतार फेंका और घोड़ी से उतर पड़ा। दूल्हे की बारात, संन्यासी का जुलूस बन गई। प्यास तो उसके भीतर थी मगर उसे इसके बारे में पता नहीं था। दादू ने उसकी प्यास को जगा दिया। प्यास, लक्ष्य उसके भीतर था, इसलिए वह जाग गया। ऐसा आदमी संसार में चला भी जाए तो भी वह संसार से अलग रह सकता है। ज्ञान के बीच जिओ। ज्ञानियों के बीच बैठो। कोई बच्चा संत के पास जाता है तो वह मात्र ज्ञान का आशीर्वाद मांगता है, ताकि परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाए।

इसके विपरीत बड़े लोगों में से बहुत कम ऐसे होते हैं, जो ज्ञान मांगते हैं। अधिकांश लोग तो धन चाहते हैं। बच्चों को ज्ञान चाहिए, बड़ों को धन चाहिए, यही फर्क है। इसी का नाम तो भटकाव है। बड़ों से बच्चे अच्छे हैं, जो आशीर्वाद मांगते हैं ताकि ज्ञान मिले। इसलिए बड़ा आदमी ज्ञानी के पास जाकर भी खाली हाथ लौट आएगा, जबकि बच्चा कुछ पाकर लौटेगा।

बच्चा साधु से वही चीज मांग रहा है जो साधु के पास है। वह अपने अनुभव, अपना ज्ञान ही अपने पास आने वालों को देगा। उसके पास धन तो है नहीं। साधु के पास तो असली 'धन' उसका ज्ञान और अनुभव ही है। वह ज्ञान दे सकता है, अपने अनुभव से आपको लाभान्वित कर सकता है। गीता में कहा है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुनः' ज्ञान एक चिंगारी है जो अज्ञान को दूर कर देती है। हमारे भीतर का अज्ञान, कषाय सब समाप्त कर देती है। थोड़ा सा ज्ञान भी व्यक्ति के जीवन में संन्यास घटित कर सकता है। जरूरत है, समझ की, बोध की, प्यास की। हमारी प्यास जितनी बढ़ती जाएगी हमारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न भी उतना ही तीव्र होता चला जाएगा।

एक सज्जन पूछने लगे आप अभी भी दुनिया भर के शास्त्र पढ़ते हैं, स्वाध्याय करते हैं। आप तो इतना कुछ पा चुके हैं फिर भी अध्ययन जारी है। मैंने कहा—'मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैंने कुछ नहीं पाया, मगर मेरे भीतर अब भी काफी जगह खाली पड़ी है। ज्ञान का कोई पैमाना नहीं है कि 'इतना' पढ़ लिया तो ज्ञान की खोज समाप्त हो गई। ज्ञान का संस्कार तो तभी बना रह सकता है, जब नियमित

रूप से स्वाध्याय किया जाए। मैं स्वाध्याय इसलिए करता हूँ ताकि मेरे भीतर ज्ञान की प्यास बनी रहे। याद रखिएगा, आपकी उम्र अस्सी-नब्बे वर्ष हो जाए, फिर भी स्वाध्याय मत छोड़ना। जिस दिन यह संसार छोड़कर जाओ, यह कामना करना कि ये ज्ञान, ये संस्कार अगले जन्म में भी प्रकट हो जाएं।

आपने देखा होगा, कई बार एक छोटा बच्चा भी काफी ज्ञान की बातें कह देता है। नचिकेता की उम्र आठ वर्ष ही तो थी, मगर उसके ज्ञान के समक्ष यमराज और धर्मराज के भी छक्के छूट गए थे। इज्जत या सम्मान केवल उम्र के कारण नहीं होता, अपितु ज्ञान के कारण होता है। मृत्यु के समय जो ज्ञान के संस्कार लेकर मरता है उसे दूसरे जन्म में भी उसका बोध हो जाता है। अगला जन्म अज्ञानपूर्ण न हो, इसलिए स्वाध्याय करते चले जाओ। यह मत सोचो कि इतनी उम्र हो गई, अब क्या पढ़ें! स्वाध्याय करते चले जाओ, जितनी चर्चाएं कर सकते हो, करते रहो क्योंकि ज्ञान और सत्य बहुत बार चर्चाओं से भी मिलता है। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए चर्चा करो।

भरपूर चर्चाएं करें। हर आदमी के जीवन के अनुभव सुनने का प्रयास करें। सत्य को पाने का एक मात्र तरीका यही है। हिन्दुस्तान में इतने सम्राट हुए, मगर अकबर का जो स्थान है, वह अप्रतिम है। वह एक मात्र ऐसा सम्राट था जिसने सत्य के लिए अपने भीतर प्यास जगाई। उसने बहुत से धर्मों के ग्रन्थों का अध्ययन किया और 'दीन-ए-इलाही' के नाम से एक ऐसा सम्प्रदाय बनाने का प्रयास किया जो सभी

धर्मों के लोगों को मान्य हो। उसने हर धर्म की अच्छी बातें ग्रहण कीं और उन्हें एक साथ एक सूत्र में पिरोया। मगर लोग उसकी भावना को नहीं समझे।

हर धर्म में अच्छी बातें हैं। चामत्कारिक पुरुष हैं, तो फिर हर धर्म के लोगों से इसकी चर्चा क्यों न की जाए। मूल बात तो ज्ञान प्राप्त करना है। जहाँ अच्छी बातें मिले, उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए। अकबर के दरबार में मौलवी थे, पण्डित थे। वह विदेशों से इसाई पादरी को भी बुलाता था और धर्म पर चर्चाएं आयोजित करता था ताकि हरेक दूसरे के धर्म की बातें जान सके। आपको यह जानकर ताज्जुब होगा कि अकबर जब युद्ध करने जाता था तो भी किसी विद्वान को साथ ले जाता था। उसे जब समय मिलता वह चर्चा करता। अकबर को ज्ञान प्राप्त करने की प्यास थी।

ज्ञान तो ऐसी सम्पदा है, जिसे संचित करना किसी के लिए भी शर्मनाक नहीं होना चाहिए। जैसे चर्चा है, वैसे ही यात्रा है। यात्रा की सार्थकता चर्चा से है और चर्चा ज्ञान-प्राप्ति के लिए ही है। भारत में आध्यात्मिक ज्ञान की भरपूर सम्भावना रही है, इसीलिए देश-देशान्तर से लोग यहाँ आते हैं। हजारों वर्षों से आते रहे हैं। तब भारत की यात्रा कर आना बड़े सम्मान की बात माना जाता था। दूसरे देश वाले उस व्यक्ति को सम्मान की दृष्टि से देखते थे, जो भारत की यात्रा कर चुके हैं, यानी उसने ज्ञान के अध्यात्म पक्ष को भी जाना है। ऐसे व्यक्ति को स्लाव भाषा में 'इंदिकोपोलिउस' कहा जाता था। इंदिकोपोलिउस कहलाना तब बड़े सम्मान

की बात थी। क्योंकि इसका अर्थ था कि यह व्यक्ति 'इंदिका' यानी भारत की विशिष्ट यात्रा कर आया है।

एक महानतम यात्री इब्न बन्तूत ने यात्राओं एवं चर्चाओं से ही ज्ञान के कई रहस्य जाने। उसने पच्चीस वर्ष की अपनी यात्राओं में सवा लाख किलोमीटर की दूरी तय की।

सिकन्दर के बारे में हम यह तो सभी जानते हैं कि वह महत्त्वाकांक्षी था, किन्तु वह ज्ञान एवं शिल्प का भी जिज्ञासु था। उसने मिस्र में एक शहर विकसित किया, जिसका नाम था 'सिकन्दरिया'। वहाँ उसने म्यूजैओन और पुस्तकालय बनाया। वास्तव में यह जबरदस्त विश्वविद्यालय था। यही पहला विज्ञान-अकादमी था। सिकन्दर ने भी खूब ज्ञान-चर्चाएं कीं। अरस्तू उसके जीवन-गुरु थे।

जिस व्यक्ति में भी ज्ञान की प्यास है, सम्भव हो, तो वह एक बार विश्व-यात्रा अवश्य करे, खूब जाने और फिर घर लौटकर सबके बारे में चिन्तन-मनन करे। दीप से दीप जलता है और ज्ञान से ज्ञान बढ़ता है। जब भी समय मिले, शान्त वातावरण में बैठे और फिर उस सत्य एवं ज्ञान को भी उजागर करने का प्रयास करे, जिसकी सम्भावना स्वयं में है।

तो चर्चा करोगे तो, ज्ञान मिलेगा। भीतर प्यास का दीया जलाए रखने की जरूरत है। जिज्ञासा नहीं है तो कुछ न मिलेगा। ज्ञान के दो पहलू हैं। एक, या तो ज्ञान हमें सत्य तक पहुँचा देगा, या आदमी आत्म-बोध तक पहुँच जाएगा। मन में यदि स्वयं को पण्डित बनाने के भाव होंगे,

तो वे आदमी को अहंकार की तरफ ले जाएंगे। व्यक्ति के भीतर सत्य को पाने की प्यास होगी तो वह विद्वता की ओर बढ़ेगा। पण्डित होना एक बात है और ज्ञानी होना दूसरी।

दुनिया में पण्डितों की कमी नहीं है। लेकिन सत्य को पाने की इच्छा रखने वाले और सत्य को पाने वालों की संख्या में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। पण्डित तो भरे पड़े हैं। आप किसी साधु के यहाँ जाकर उसके चरणों में क्यों झुकते हैं? इसलिए कि उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया है, उनकी विनम्रता, सत्य और चरित्र हमें झुकने की प्रेरणा देता है। आत्म-ज्ञानी और एक प्रोफेसर में यही अन्तर है। प्रोफेसर खूब किताबें पढ़ता है मगर उससे लोग नहीं जुड़ पाते, पुजारी दिन भर मन्दिर में रहता है मगर उसे मोक्ष मिल जाएगा, यह जरूरी नहीं है। वह पूजा तो भगवान की करता है, मगर उसकी नजरें इस बात पर लगी रहती हैं, कौन भक्त आया? किसने, कितना चढ़ावा चढ़ाया। इसलिए जरूरत है ज्ञान की असली प्यास जगाने की और इसके लिए जरूरी है कि हम अपने अज्ञान को स्वीकार करें। यही ज्ञान प्राप्ति की दिशा में उठाया जाने वाला पहला और सार्थक कदम होगा।

३

सजल श्रद्धा में निखरती प्रखर प्रज्ञा

७ अगस्त १९९१, ऋषिकेश

कुन्दकुन्द-सूत्र

जं जाणइ तं णाणं,
जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छयस्स य,
समवण्णा होई चारित्तं ॥

श्रद्धा जीवन का मातृत्व है। मातृत्व जीवन के द्वार पर एक नई पहल है। मातृत्व का अर्थ है कुछ नया पैदा हुआ। जीवन की सार्थकता कुछ नया पैदा करने में ही है। बगैर सन्तान, आदमी-आदमी रहेगा और महिला-महिला रहेगी। वे पिता और माता नहीं बन पाएंगे। इसलिए जब बच्चा पैदा होता है तो आदमी की गोद में एक पिता भी पैदा होता है। महिला की कोख में एक माँ पैदा होती है।

श्रद्धा मातृत्व है, पितृत्व है। श्रद्धा के आते ही अध्यात्म में फूल खिलने लगते हैं। श्रद्धा रस है, प्रेम का पारावार है, आत्म-विश्वास की पहल है। कुछ हो गुजरने और कर गुजरने की भावना, बगैर श्रद्धा हो ही नहीं सकती। जीवन में जब तक श्रद्धा का सेतु न होगा, ज्ञान और आचरण के बीच दूरी बनी रहेगी। इसलिए भले ही अध्यात्म ही क्यों न हो, बगैर श्रद्धा तो अध्यात्म भी मरुस्थल है, रसहीन है, आनन्द शून्य है।

श्रद्धा तो प्राप्त ज्ञान के प्रति समर्पित होने का नाम है। जो श्रद्धा ज्ञान से आचरण की यात्रा करवाती है, जीवन में इससे बड़ी ज्योतिर्मय पहल और कौनसी होगी? इसलिए ज्ञान और चारित्र्य के बीच जन्मी श्रद्धा न तो कभी अन्धानुसरण हो सकती है और न ही अन्ध विश्वास।

बगैर श्रद्धा मनुष्य का ज्ञान पाण्डित्य मात्र होगा। और एक बात खुलकर कह देना चाहता हूँ कि कोरा पाण्डित्य तर्क-वितर्क का भ्रम जाल ही बुनेगा। किसी व्यक्ति का ज्ञान चरित्र नहीं बनता है तो यह पक्की बात है कि वह बीच में

कहीं-न-कहीं लंगड़ी खा चुका है। पण्डिताई तो मस्तिष्क में अवतरित हुई चीज है, जबकि श्रद्धा के घुंघरु हृदय में बजते हैं। मीरा पांव में घुंघरुओं को बांधकर नाची तो पण्डिताई की बदौलत नहीं, उसके घुंघरु तो, उसके हृदय की ही आवाज है। श्रद्धा हृदय की ध्वनि है और घुंघरु उसकी अनुगुंज।

संसार में ज्ञान की कमी नहीं है। अगर कमी है तो ऐसे ज्ञान की, जिसमें श्रद्धा की कटौती हुई है। ब्राह्मण हिन्दू है। हिन्दू तो हरिजन भी है मगर इस बात को तुम कैसे अस्वीकार करोगे कि दोनों में कितनी दूरी है। वैचारिक तौर पर, भाषणों की चहल कदमी में हम जरूर हरिजन के प्रति नेक नियती की बात करते हैं पर, यदि साथ बैठकर खाना खाने की बात हो, या परस्पर विवाह करने की नौबत आए तो शायद इस हिन्दुस्तान में गिनती के हिन्दू भी नहीं मिलेंगे। क्या जानते हो, हमारे ज्ञान और बर्ताव में यह विरोधाभास क्यों है? मेरा जवाब रहेगा हम बुद्धिजीवी तो बन गए हैं मगर अन्तर्जीवी नहीं बने। श्रद्धा हार्दिकता है। यह शास्त्रीय दर्शन नहीं, हृदय का संगीत है।

कुन्द-कुन्द ने श्रद्धा को दर्शन कहा है। ज्ञान से जाना जाता है, दर्शन से देखा जाता है, विश्वास किया जाता है और चारित्र्य से ज्ञात सत्य का आचरण होता है। जाने हुए को करना और किए हुए को जानना, दोनों अनिवार्य है।

दर्शन वह आधार है जो आदमी के ज्ञान को 'चरित्र' में ढालता है। यदि श्रद्धा नहीं है तो कोई भी आदमी ज्ञान को अपना चरित्र नहीं बना पाएगा। मेरे मन में आपके प्रति प्रेम है और मैंने आपको जान लिया है तो, मैं आपको प्रणाम

भी करूंगा। मेरे मन में आपके प्रति श्रद्धा है। मैं आपको कुछ मानता ही नहीं, तो मैं प्रणाम भी क्यों करूंगा और आपके चरणों में क्यों झुकूंगा ?

श्रद्धा तो वह साधन है जिसके माध्यम से हम ज्ञान के आकाश में विचरण कर सकते हैं। जहाँ श्रद्धा और ज्ञान मिल जाते हैं वहीं चरित्र का निर्माण होने लगता है। वहाँ उधार का नहीं, स्वयं का चरित्र होता है। जो होता है, जैसा होता है, उज्ज्वल और ईमानदारी से भरा होता है। ज्ञान है तो श्रद्धा जरूरी है और श्रद्धा है तो ज्ञान जरूरी है। श्रद्धा नहीं हो तो ज्ञान बेकार है और ज्ञान नहीं है तो श्रद्धा पैदा नहीं होगी। चील आसमान में उड़ती है मगर उसकी नजर नीचे जमीन पर रहती है। जहाँ भी उसे मांस नजर आता है, वह नीचे झपट्टा मारती है और अपना अभीष्ट लेकर पुनः उड़ जाती है। आदमी चाहे जितना ऊपर चला जाए, शिखर पर पहुँच जाए, जब तक उसका श्रद्धा भाव खोखला बना रहेगा, दीमक उसे खोखला बनाती रहेगी, तब तक व्यक्ति का ज्ञान कभी चरित्र नहीं बन सकेगा। जब तक ज्ञान चरित्र में परिवर्तित नहीं होगा, तब तक ज्ञान बेकार है। ऐसा ज्ञान 'मुँह में राम, बगल में छुरी' वाला कहलाएगा।

मनुष्य का चरित्र ज्ञान के अनुरूप नहीं होगा तो वह कहेगा कुछ और करेगा कुछ। उसकी कथनी और करनी में एकरूपता नहीं हो सकती। उसे दो मुखौटों में जीवन बिताना पड़ेगा। अन्दर और बाहर विरोध होगा तो व्यक्ति आत्म-प्रवंचना में ही डूबा रहेगा, स्वयं को धोखा देता चला जाएगा। यही तो सबसे बड़ा पाप है। मन्दिर में, परमात्मा के गाल पर चांटा लगाकर इतना धोखा नहीं खाओगे जितना अपनी

आत्मा को लगाकर खाओगे । परमात्मा को तो प्रार्थना से मना भी लोगे, मगर स्वयं को ही छल रहे हो तो कहाँ जाओगे ? कौनसी प्रार्थना आपको बचाएगी ?

व्यक्ति के पास बहुत कुछ है । वह जानता भी है, लेकिन उसका आचरण इसके विपरीत है । आदमी ऊपर से प्रार्थना करता है और दुकान में जाकर मिलावट कर लेता है । यह दोगलापन उसे रसातल में ले जाता है । कभी सोचा है कि कथनी और करनी का अन्तर आपको कहाँ ले जा रहा है ? जब भी ऐसा करोगे तो अपने जीवन में मिथ्यात्व को जन्म देते चले जाओगे । मिथ्यात्व की परिभाषा यही है । व्यक्ति भीतर सोचे कुछ और बाहर करे कुछ । हमारे भीतर वासना जितनी गहरी पैठी है, मुक्ति की चाह भी उतनी ही गहरी होगी, तभी हम मुक्त हो सकेंगे ।

मनुष्य वासना से आसानी से मुक्त नहीं हो पाता । वासना उसे दिन में भी और रात में भी घेरे रहती है । वासना का अर्थ केवल सेक्स या 'काम' से नहीं है । छल-कपट, दूसरों को धोखा देना, भूठ बोलना, किसी का बुरा चाहना—ये सब भी वासना ही हैं । चेतन-अचेतन अवस्था में पूरा शरीर वासना में डूबा रहता है । वासना से मुक्त होने के लिए मुक्ति की कामना भी तीव्रतम होनी चाहिए । फिर तो श्रद्धा आपके सूने में खिल-खिलाहट बिखेरेगी, वीराने में हरियाली ले आएगी । मूल तक पहुँच जाओगे तो श्रद्धा महोत्सव मनाएगी ।

इसलिए अपनी आत्मा की सच्चाई को परखना जरूरी है । ईमानदारी से प्रयास करना जरूरी है । एक लड़का किसी बगीचे में गया । उसने देखा, बगीचे में माली नहीं है ।

उसने एक पेड़ पर चढ़ कर वहाँ लगे आम तोड़ने शुरू कर दिए और अपना भोला भरने लगा। इतने में कहीं से माली आ गया। माली ने लड़के को नीचे उतारा और उसकी पिटाई शुरू कर दी। माली ने कहा—चोरी करते हो, शर्म नहीं आती?’ लड़के ने कहा—‘भलाई का तो जमाना ही नहीं रहा। मैं तो बाग से होकर गुजर रहा था। देखा कुछ आम नीचे गिरे थे। मैं इन्हें पेड़ पर वापस चिपकाने के लिए चढ़ गया और आप हैं, जो मुझ पर भूठा इत्जाम लगा रहे हैं!’

हम अपनी आत्मा से पूछें, कहीं हम भी तो ऐसा नहीं कर रहे हैं? आम भी तोड़ रहे हैं, चोरी भी कर रहे हैं और ऊपर से सीनाजोरी भी दिखा रहे हैं।

अपनी कषायों, अपने झूठ को, आत्म-प्रवंचना को कब तक दबाओगे। ये तो एक दिन और तेजी से उभर कर आएंगे। अंगारा राख के नीचे दबा हुआ है, जैसे ही तेज हवा आएगी और राख उड़ जाएगी तो अंगारा पुनः भभक उठेगा। वह नई आग को जन्म देने में सक्षम होगा। आग तो जलेगी। आपने देखा होगा, वर्षों तक सुप्त रहने के बाद ज्वालामुखी फट पड़ते हैं। माया, वासना, अहंकार—ये सभी उष्णता है और हम इन्हें अपने भीतर दबाते चले जा रहे हैं। याद रखो, ये एक दिन फूट पड़ेंगे और तब इनमें सब कुछ तहस-नहस हो जाएगा।

आदमी दिन में तो भटक ही रहा है, रात्रि में भी उसे आराम नहीं है। दिन में खुली आँखें उसे भटकाती हैं तो रात्रि में बन्द आँखें सपने दिखलाती हैं। दिन में भी सपने, रात में भी सपने। दिन के सपने चेतन मन के हैं। रात्रि के

सपने अचेतन मन के हैं। आराम-विश्राम का समय नहीं निकाल पा रहा है आदमी। वह दिन-रात भटकता ही रहता है। मन में इधर-उधर से विचार भटकते रहते हैं। आदमी बाहर से तो संयम कर भी ले, मगर भीतर का संयम नहीं कर पाता।

संयम का अर्थ है—अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण करना, अपने आपको सम्यक् दिशा देना, अपनी इन्द्रियों पर अनुशासन करना। इस नियन्त्रण का यह अर्थ कतई नहीं है कि आदमी अपनी इच्छाओं को दबा ले। दमित इच्छाएं और ज्यादा नुकसान दायक होती हैं। पुराने जमाने में अपराध करने पर सजा भी भयंकर मिलती थी। किसी ने चोरी कर ली और पकड़ा गया तो उसे हाथ काटने की सजा मिलती थी। किसी ने पराई स्त्री पर नजर डाल दी तो उसकी आंखें फोड़ दी जाती थीं। खून का बदला खून होता था। यह आदिम व्यवस्था तो अब समाप्त हो गई है। जरा विचार करें—हाथ काटने और आंख निकालने से समस्या का कितना समाधान हुआ? आदमी में भीतर से सुधरने की इच्छा पैदा नहीं हुई। एक हत्यारे को अपने किए का पछतावा हो, वह पश्चाताप के लिए प्रेरित हो, यही तो असली परिवर्तन है। हमारे यहाँ की जेलों की हालत ऐसी है कि वहाँ जाकर आदमी सुधरता नहीं है, बल्कि और गम्भीर अपराध करने की ओर प्रवृत्त होता है।

भावनाओं को जितना दबाया जाएगा, वे और तेजी से उभर कर आएँगी। हमने स्प्रिंग को देखा है, उसे हम जितनी जोर से दबाएँगे, वह उससे दुगुने वेग से उछलेगी। संयम एक जगह ही नहीं करना है। शरीर का संयम, मन का संयम,

भावनाओं का संयम । मन में किसी के प्रति बुरा सोचा, असंयम हो गया । किसी के प्रति क्रोध का भाव आया, असंयम हो गया । हमने किसी को चांटा नहीं मारा मगर मन में सोच लिया कि उसे चांटा मारूँ, तो हिंसा हो गई समझो । मूल में भावना है ।

एक डॉक्टर ने अपने मरीज के इलाज के दौरान उसकी नाड़ी काटी, दुर्योग से उस मरीज की मृत्यु हो गई, तो डॉक्टर खूनी हो गया क्या ? नहीं ! डॉक्टर की भावना तो उसकी जान बचाने की थी, उसके मन में मरीज की हत्या के भाव नहीं थे । वह मर गया तो, इसमें डॉक्टर दोषी नहीं कहलाएगा । दूसरी ओर एक आदमी किसी को मारने के लिए जहर पिला देता है । वह आदमी पहले से बीमार था । संयोग से जहर से उसका पुराना रोग कट गया और वह स्वस्थ हो गया । दुनिया तो कहेगी कि उस आदमी ने दवा पिलाई मगर ज्ञानी की नजरों में तो उसने मारने का प्रयास किया, दोष तो उसे लग गया । किसी काम के पीछे की भावना ही उसके अच्छे और बुरे का फैसला करती है । विचार, भाव ही तो कार्यरूप में परिणित होते हैं ।

जीसस ने कहा था—‘प्रभु के राज्य में बच्चे ही प्रवेश पा सकेंगे ।’ यहाँ बच्चे का अर्थ, केवल ‘बच्चा’ नहीं है । ‘बच्चा’ वह जो निष्कलंक है, पाप से दूर है । उसमें क्रोध, कषाय, छल-कपट नहीं होता । ‘बच्चा’ कहने का अर्थ यही है कि आदमी उन गुणों से भरा है । आदमी को अपने बाहर और भीतर के अन्तर को मिटाना है । यह खोखलापन तभी दूर होगा जब आदमी के ज्ञान और श्रद्धा में साम्य होगा । असली ‘चरित्र’ भी वहीं पैदा होगा । इनमें साम्य नहीं होगा

तो दोनों अर्थहीन हैं। ज्ञान कुछ कहता है और श्रद्धा कुछ। ज्ञान क्षमा की बात कर रहा है मगर श्रद्धा क्रोध का पल्ला पकड़े है तो विसंगतियाँ पैदा होने लगेंगी। श्रद्धा और ज्ञान एक दूसरे की ओर पीठ करके खड़े हैं। इनके मुँह एक-दूसरे के आमने-सामने नहीं होंगे, तब तक समस्या बनी रहेगी।

श्रद्धा और ज्ञान जब तक एक नहीं बनेंगे तब तक चरित्र अधूरा ही रहेगा। आदमी कहता है, संसार छोड़ना चाहता हूँ, मगर छूटता ही नहीं है। दरअसल, आदमी ने खुद संसार को पकड़ रखा है। श्रद्धा तो संसार के प्रति अभी तक बनी हुई है मगर ज्ञान धर्म की ओर खींच रहा है। आदमी न तो संसारी बन पाता है और न ही संन्यासी ही हो पाता है। हमारा अध्यात्म भटक रहा है। आदमी न तो उधर का रह पाता है और न ही उधर का। धोबी घाट के गधे की तरह उसकी स्थिति हो जाती है। जब तक ज्ञान और श्रद्धा विपरीत राहों पर चलते रहेंगे, चरित्र भी डावांडोल रहेगा।

कोई श्रावक और साधु कहे कि राग और संसार को छोड़ना मुश्किल है तो समझो, अभी तक वह श्रावक और साधु की वास्तविक भूमिका से बहुत दूर है। वह असली राह नहीं पकड़ पाया है, भटक रहा है। सब कुछ करके भी निर्लिप्त भाव से रहो। जैसा ज्ञान है, वैसा ही चरित्र बनाने का प्रयास करो। नहीं तो हालत उस हाजी जैसी होगी जो “मक्का गया, हज किया, बनकर आया हाजी; आजमगढ़ में जब लौटा, रहा पाजी का पाजी”।

नतीजा शून्य ही रहेगा। भले ही बार-बार हज कर आओ। बिल्ली सौ चूहे खाकर संन्यास ले ले तो भी लोग विश्वास नहीं कर पाते।

एक बार इंग्लैण्ड में बहुत बड़ी संगोष्ठी हुई। उस संगोष्ठी में भारत का प्रतिनिधित्व एक बिल्ली ने किया। तीन दिन तक चली संगोष्ठी में भाग लेकर जब बिल्ली वापस लौटी तो सबने उसे घेर लिया। उससे संगोष्ठी के बारे में पूछने लगे। बिल्ली बोली संगोष्ठी तो जोरदार थी, मगर मैं उससे जुड़ नहीं पाई। सभी ने एक स्वर में पूछा—‘क्यों?’ बिल्ली बोली—‘क्या बताऊँ; मेरी नजर इंग्लैण्ड की महारानी के सिंहासन के पाये पर लगी रही। दिमाग भी वहीं रहा, क्योंकि वहाँ एक चूहा बैठा था।

बिल्ली संगोष्ठी में होकर भी वहाँ नहीं थी। ऐसा चरित्र दोगला होगा। इसलिए कुन्द-कुन्द कहते हैं—

जं जाणइ तं णाणं, जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं ।

णाणस्स पिच्छयस्स य, समवण्णा होई चारित्तं ॥

जो जानता है, वह ज्ञान है। जो देखता है, वह दर्शन है। ज्ञान और दर्शन के समायोग से ही चरित्र का निर्माण होता है।

कुन्द-कुन्द कहते हैं ज्ञान से जानो, दर्शन से देखो। ज्ञान और दर्शन अपने भीतर आत्मसात करो। ये दोनों जब समान रूप से आएंगे, तभी आपका चरित्र सधेगा। अपने ज्ञान और दर्शन को शुद्ध करने का सूत्र यही है कि किसी के अवगुणों को मत देखो। अपने अवगुण भी मत देखो। जो गुण हैं, उनके विस्तार का प्रयास करो। यह अहंकार की बात नहीं है। इसे समझने का प्रयास करिए। आदमी अपने अवगुण ही निहारता रहेगा तो कोई फायदा नहीं है। अवगुण तो आदमी में कदम-कदम पर भरे पड़े हैं। किस-किस के लिए प्रायश्चित्त करोगे? अवगुणों को भूल जाओ। यह मत

याद करो कि बचपन में चोरी की थी, जूआ खेला था। जिन्दगी तो कमियों से भरी पड़ी है। ज्ञान की दिशा में चलना शुरू करो। अपने गुणों को याद करने का प्रयास करो। जो अच्छे काम हुए हैं, उन्हें और करने का प्रयत्न करो।

रात को सोने से पूर्व दस मिनट तक आंखें बन्द कर बैठ जाओ। अब सुबह से शाम तक किए गए कार्यों को याद करो। दिन भर में जो बुरे काम किए उन्हें दिमाग से निकाल दो। अच्छे काम याद करो तथा संकल्प लो कि आज यह अच्छा काम किया, कल ऐसे दो काम करूंगा। मान लो दिन भर में दो चींटियां आपके पाँव के नीचे आकर मर गईं और आपने चार चींटियों को बचा लिया। जो मर गईं उनके प्रति अपने को दोषी मानने से फायदा नहीं है। संकल्प करो कि आज चार चींटियां बचाईं, कल ध्यान रखूंगा आठ चींटियां बच जाएं। ऐसा करने से ज्ञान श्रद्धा बन जाएगा। इसी से चरित्र बनेगा। जहां दीया जलेगा, वहां अन्धकार अपने आप मिट जाएगा। मूल बात तो अन्धकार को हटाना ही है। प्रकाश ही अंधकार को हटाने का आधार-सूत्र है।

प्रकाश आत्म जाग्रति को क्रांति है। जाग्रति होश है। होश ही जीवन का पुण्य है। जहां बेहोशी है, वहीं अज्ञान है। अज्ञान ही पाप है। पाप हमेशा अज्ञान में ही होते हैं। जागरूक दशा में जो कुछ भी होता है वह पुण्य कृत्य में ही सहायक होता है। किसी ने किसी को चांटा मारा, इसलिए क्योंकि खुद का होश नहीं था। जैसे ही होश आया, क्रोध के भाव बुझ गए और प्रायश्चित्त के भाव उभर उठे। इसलिए एक ज्ञानी होने का सार यही है कि वह सदा जागरूक रहे, होश में

रहे । होश में गुणों का महोत्सव होता है और बेहोशी में गुण भी अवगुण दिखाई देने लग जाते हैं ।

कुन्द-कुन्द कहते हैं—‘जं जाणइ तं णाणं’, जो जानता है, ज्ञान है । जानना ही ज्ञान है । ‘जं पेच्छइ तं च दंसणं’, जो देखता है, दर्शन है । देखना ही दर्शन है । पता है, जागरण क्या है ? ज्ञान और दर्शन का संयोग ही जागरण है । जानने के लिए देखना जरूरी है और देखने के लिए जानने की जिज्ञासा जरूरी है । चूंकि सच्चे चारित्र्य का जन्म ही दर्शन और ज्ञान के साहचर्य से होता है इसलिए आत्म जागरण ही वास्तव में व्यक्ति का जीवन चारित्र्य है ।

कुन्द-कुन्द का यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य, उनकी भगवत्ता की आध्यात्मिक ज्यामिती है । दर्शन देखने की क्षमता है । ज्ञान जानने की अंतरूपता है और चारित्र्य उसे करने की समता है । इसलिए जानना पहला चरण है; जाने हुए पर श्रद्धा करना दूसरा चरण है और अन्तिम चरण है जाने हुए को जीवन और व्यवहार में ढालना । व्यक्ति का वही ज्ञान चारित्र्य बन पाता है जो श्रद्धा-दर्शन से गुजर जाता है ।

अमृत पद प्राप्ति के लिए तो हम सबसे पहले ज्ञान की ओर श्रद्धा के चरण बढ़ाएं । आत्म-दृष्टा पुरुष होने का यही मौलिक चरण है । हम अपने कदम बढ़ाएं, अपने में, अपनी ओर, अपने ही द्वारा । अमृत का सागर अपने ही अन्दर है । स्वयं में ही समाया है, परमात्मा का क्षीर सागर । कुण्डलिनी की नाग शय्या पर जीवन की परम शक्ति सोयी है, जरूरत है उसे जगाने की ।

४

साक्षीभाव है आँख तीसरी

८ अगस्त १९९१, ऋषिकेश

कुन्दकुन्द-सूत्र

जह फुल्लं गंधमयं
भवदि हु खीरं स घियमयं चाबि ।
तह दंसणं हि सम्मं,
राणामयं होइ रूवत्थं ॥

सूत्र है :

“जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि ।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥

जैसे पुष्प गन्धमय और दूध घी मय होता है, वैसे ही सम्यक्-दर्शन, ज्ञानमय रूपस्थ होता है ।

स्वयं की ज्ञानमय स्थिति का नाम ही सम्यक्-दर्शन है । अन्तर-जगत् ज्ञानमय हो और बहिर्जगत् के प्रति तटस्थता—यही सम्यक्-दर्शन की मूल पहचान है । ज्ञानमय स्थिति में जीने का अर्थ आत्मजागरुकता के साथ अस्तित्व का विहार करना है ।

कुन्द-कुन्द के सम्पूर्ण अनुभवों का निचोड़ ‘दर्शन’ है । यह दर्शन फिलोसॉफी नहीं है, वरन् सेल्फ रिमेम्बरिंग है, चॉयसलैस अवेयरनेस है । यह दर्शन हमारे बोध की वह सजगता है, जिसमें चयन नहीं होता, वरन् तटस्थता होती है । दो में से किसी का भी चयन न करना, निर्णय के लिए मन का मौन बने रहना ही तटस्थता है । यह मौन जीवन का सौभाग्य है । कहने में यह मौन जरूर है, पर अपनी ज्ञानमय स्थिति बनाये रखने के लिए यह चेतना का ‘शंखनाद’ है ।

ज्ञान भीतर की चीज है, तटस्थता बाहर के लिए है । सम्यक्-दर्शन ज्ञान और तटस्थता के बीच की कड़ी है । दर्शन ही वह सेतु है, जो भीतर और बाहर दोनों में सन्तुलित समायोग स्थापित करता है । दर्शन देखता है, इसलिए दर्शन कसौटी है । दर्शन सम्यक्त्व को देखता है । व्यक्ति का ज्ञान

भी सम्यक् हो और तटस्थता भी । दर्शन उनके सम्यक् स्वरूप को जांचने और बनाये रखने का अभियान है ।

दर्शन दीया है । रोशनी भीतर भी हो और बाहर भी । जागरूकता भीतर भी रहे और बाहर के प्रति भी । अन्दर हो अंधियारा और बाहर रहे उजियारा या भीतर हो उजियारा और बाहर हो अंधियारा, तो यह रोशनी जीवन-क्रान्ति नहीं, वरन् क्रान्ति के प्रति बगावत है । डुलमुलापन कारगर नहीं होता । रोशनी तो बाहर-भीतर दोनों ओर रहनी चाहिए । कुन्द-कुन्द के शब्दों में वह रोशनी दर्शन ही है । इसलिए दर्शन देहली पर रखा वह दीया है, जिसके प्रकाश का विस्तार बाहर-भीतर समान है । जो भीतर है, आखिर उसे तो अभिव्यक्त होना ही चाहिए । जो बाहर है अगर वह भीतर नहीं है तो बाजार का अमीर घर का दिवालिया होगा ।

जीवन संगीत है । भला संगीत में कहीं कोई दुभांत होती है ! मंच का संगीत तो अभिनय है । संगीत का असली आनन्द तो घर में है । आनन्द घर में भी लो और मंच पर भी । केवल गुदड़ी के गवैये ही मत बनो । दर्शन, भीतर और बाहर दोनों के बीच एक आयोग स्थापित करता है जिसका उद्देश्य दोनों में एकरूपता और निकटता लाना है ।

कुन्द-कुन्द ने दो प्रतीक चुने हैं, जिनमें एक तो है 'फूल' और दूसरा है 'दूध' । फूल की दो विशेषताएं हैं—सुगन्ध और सौन्दर्य । फूल की तरह दूध में भी दो विशेषताएं हैं । दूध की दो विशेषताएं—माखन और उज्ज्वलता है । भीतर हो खुशबू और बाहर रहे सौन्दर्य, यही तो फूल की विशिष्टता है । दूध

के भीतर तो माखन होता है और बाहर उज्ज्वलता, जीवन का दर्शन ऐसी ही अपेक्षा रखता है। भीतर हो जागरूकता और बाहर हो तटस्थता, कुन्द-कुन्द की दृष्टि में यही व्यक्ति की ज्ञान में रूपस्थ स्थिति है।

दर्शन का मूल सम्बन्ध 'सम्यक्त्व' से है। सम्यक्त्व का सम्बन्ध सत्य और शुद्धता से है। जैसे सोने का 'चौबीस केरेट' खालिस होना उसकी शुद्धता है। ऐसे ही सत्य को सत्य-रूप और असत्य को असत्य-रूप जान-मान लेना, जीवन का सम्यक्त्व है। इसलिए दर्शन हंस-दृष्टि है, जो अलग-अलग कर देती है दूध और पानी को, कण और मोती को, जड़ और चेतन को, सत् और असत् को, अन्धकार और प्रकाश को।

यह मन की विक्षिप्तता ही है कि व्यक्ति कभी तो अपना सम्यक्त्व बाहर तलाशता है और कभी तो उसे, भीतर तलाश लाजिम लगती है। बाहर ढूँढने जाओ तो वह भीतर की प्रेरणा देगा। अन्तर्यात्रा शुरू करो तो अजीब-अजीब उबासियां खायेगा। कैसा द्वन्द्व मचा है इस जीवन के द्वार पर! द्वन्द्व इसलिए है कि व्यक्ति ने बाहर और भीतर दोनों के बीच द्वार की बजाय दीवार खड़ी कर दी है। जबकि दोनों के बीच कोई सेतु और संयोजन होना चाहिए। दर्शन का सेतु नहीं है, इसीलिए तो असलियत भी मुखौटे पहनने लग गयी है। भीतर कुछ हो जाती हो और बाहर कुछ और। भीतर और बाहर तो आखिर है तो जीवन के ही परिसर। दीवारें खड़ी कर रखी हैं, इसीलिए तो 'भीतर' और 'बाहर' जैसे शब्द कहे जा रहे हैं। दीवार गिरा दो तो न बाहर होगा, न अन्दर। सब कुछ समतल होगा। दर्शन का काम दीवारों को गिराना

है, परतों को उखाड़ना है ताकि ज्ञान और आचरण में कहीं कोई देशी-विदेशी-प्रादेशिक भेद-भाव-रेखा न हो ।

इन्द्रियां बाहर खुलती हैं । इसलिए हम वास्तविकताओं की खोज बाहर ही करने लग गये हैं । भीतर की खोज तो तब चालू करते हैं, जब बाहर की खोज व्यर्थ अहसास होने लग जाती है । धन खोजते थक गये तो धर्म को पकड़ लिया । अब, विचित्रता तो यह है कि बाहर की खोज का अभ्यास इतना अधिक हो गया है कि धर्म भी बाहर ही खोजा जा रहा है । धर्म तो आत्म-स्वभाव है, अन्तर्जगत की अस्मिता और प्रफुल्लता है ।

बाहर धर्म का व्यवहार है और भीतर धर्म का ज्ञान है । बाहर तटस्थता है और भीतर ज्ञान का अवस्थान है । असली प्रतिष्ठा तो भीतर ही है । लोक में बने हुए सारे मन्दिर, परमात्मा की स्मृति के लिए हैं । सर्वस्व वे ही नहीं हैं । वे तो सर्वेश्वर तक पहुँचने के लिए 'कुछ' हैं । सर्वेश्वर का 'सर्व' तो अन्तर्जगत् की ज्ञानमय जागरूक दशा में है । असली मन्दिर तो वही है । परमात्मा परम चैतन्य है । इसलिए उसकी असली सम्भावना वहीं की जा सकती है, जहाँ हमारे चैतन्य-प्रदेश हैं ।

बाहर के जरिये भीतर तक पहुँचो । उन साधनों को अपनाते में कोई ऐतराज नहीं है, जिनसे भीतर की याद हो आती है, अन्तर्यात्रा चालू हो जाती है ।

मैं तो तेरे पास में ।

खोजी होय सो तुरते मिलिहै, पल भर की तलाश में

मैं तो रहों शहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में ।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, सब सांसों की सांस में ॥

‘मैं’ तो तेरे पास में । इस ‘मैं’ को पहचानना ही तो सम्यक्त्व का आचरण है । अच्छाई के संवाद का अर्थ यही है कि ‘मैं’ को जान लिया ।

तीन तरह के लोग होते हैं—संसारो, संन्यासी और संबुद्ध । जिसे ‘मैं’ से कोई सम्बन्ध हो नहीं है, वह संसारो है । संन्यासी वह है जो पूछता है ‘मैं’ कौन हूँ । संबुद्ध-पुरुष, ‘मैं’ को जानता है । यह जानना ही व्यक्ति की ज्ञानमय दशा है । इसलिए जब कैवल्य घटित होता है, तब और सब तो जाता रहता है, केवल ‘ज्ञान’ बचा रहता है ।

‘मैं’ कौन हूँ—यह पूछने वाला संन्यासी और न पूछने वाला संसारो है । ‘मैं’ कौन हूँ, जो यह जानता है वह संप्रज्ञात-पुरुष है, संबुद्ध-चेतना है ।

ज्ञानमय दशा को प्राप्त करने के लिए कुछ ढूँढ़ना नहीं पड़ता, वरन् पहचानना पड़ता है । यहां करना नहीं, वरन् होना महत्त्वपूर्ण है । करना क्रियाकर्म है और होना ज्ञानमय है । करना, ऊपर-ऊपर—होना, सतह को छूना है । करना ‘डूइंग’ है और होना ‘बीइंग’ । आत्म-दर्शन ‘होने’ का संयोग है । ‘होना’ स्वभाव में रहना है । स्थित-प्रज्ञ और एकाग्रचित्त होने का यही रहस्य है ।

स्वयं की ज्ञानमय स्थिति के लिए चुनाव रहित सजगता चाहिए । चुनाव मन की उलभन है । हर दिन सैकड़ों ऐसे

मौके आते हैं, जहाँ चुनने की प्रक्रिया अपनायी जाती है। चुनाव का अर्थ हुआ यह या वह। ये 'यह' या 'वह' ही तो भटकाव के सूचक हैं। 'चुनने' का अर्थ हुआ कि व्यक्ति ने हस्तक्षेप किया। क्रियाएं हों, किन्तु प्रतिक्रिया नहीं होनी चाहिए। जैसे ही हमने चुना कि मन का निर्माण हुआ। 'चुनना' होने के विपरीत है। जीवन की अस्मिता चुनने में नहीं, वरन् 'होने' में है। इसलिए चुनो मत, साक्षी बनो। बीज साक्षी है वृक्ष का।

साक्षीभाव ही मन के संसार से मुक्त होने का प्रयोग है। मन भी क्या अजीब खिचड़ी है, जिसमें ऐसे-ऐसे विचार भरे रहते हैं जिनका एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं होता। उसमें ऐसी तस्वीरें मौजूद रहती हैं, जिनमें कोई तरतीब ही नहीं होती। साक्षीभाव विचारों के विरोधाभास से हमें ऊपर उठाता है।

हमारे प्रयास 'बुद्धत्व के फूल' खिलाने के होने चाहिए। जहाँ बुद्धत्व है, वहाँ स्वर्ग ही स्वर्ग है। बिना बुद्धत्व के तो स्वर्ग भी नरक बन जायेगा। स्वर्ग के कारण बुद्ध-पुरुष नहीं है, वरन् बुद्ध-पुरुषों के कारण स्वर्ग है। यदि हम किसी तोर्थकर-पुरुष को नरक में ले जायें, तो नरक, फिर 'नरक' रह ही न पायेगा। नरक भी स्वर्ग बन जायेगा। बुद्धों के विहार से ही स्वर्ग बन जाता है, फिर चाहे वह नरक ही क्यों न हो।

जिनके पुण्य प्रबल हैं वे माटी को छूएंगे तो सोना बन जायेगा। जब पुण्य ही अधमरे हो गये हैं तो सोने को भी

‘माटी’ होना पड़ेगा । हर अमृत-पुरुष पुण्य का, प्रकाश का, पुंज होता है ।

बुद्ध होने का अर्थ है, ‘बोधमय तटस्थता’ । साक्षीभाव के मार्ग से बुद्धत्व के शिखर हासिल किये जा सकते हैं । साक्षीभाव मनुष्य की ‘तीसरी आँख’ है । प्रतिक्रियाओं से वही बच पाता है जो तटस्थ है । इसलिए मन की हस्ती बुझाओ और निर्वाण का दीप जलाओ । दीप जले-निर्धूम । चुनाव-वासना के धुंए से रहित ।

अदम के तारीक रस्ते में कोई मुसाफिर न राह भूले ।

मैं शम-ए-हस्ती बुझा के अपनी चिरागे तुरबत जला रहा हूँ ।

राजर्षि भर्तृहरि के जीवन की घटना है, जब वे एक पेड़ के नीचे बैठे साधनारत थे । उन्होंने देखा कि उनसे कुछ दूर कोई अद्भुत-अनूठा हीरा पड़ा है । उनके मन में एक विकल्प जरूर आया कि ऐसा हीरा तो उनके राज भण्डार में भी नहीं था, तो क्या इसे उठा लेना चाहिए । तभी उन्होंने देखा कि पूर्व दिशा से एक सुभट चला आ रहा है । पश्चिम दिशा से भी एक सुभट चला आ रहा है । दोनों सुभट हीरे के पास आकर ठिठक गये । दोनों ही हीरे पर अपना-अपना अधिकार जतलाने लगे । दोनों एक दूसरे से कहने लगे कि हीरा पहले मैंने देखा है । बात इतनी बढ़ गयी कि दोनों में तलवारें चल पड़ी ।

भर्तृहरि ने पाया, हीरा वहीं का वहीं है उसके कारण दो लाशें जरूर बिछ गयी हैं । उनका निष्कर्ष था कि बचता वही है जो तटस्थ है, जो हस्तक्षेप नहीं करता ।

बोधपूर्वक जागरण ही ज्ञानमय रूपस्थ होने का सम्यक् दर्शन है। बाहर की हर गतिविधि यहाँ तक कि मन की हर उठापटक के प्रति भी साक्षी तटस्थ बने रहो और भीतर से स्वयं के बोध में जियो। 'अध्यात्म' की हमसे यही अपेक्षा है। बोधपूर्वक होने वाला साक्षीभाव ही आत्म-स्वरूप की विशुद्धता का अनुष्ठान है।

रे रे समकित जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर से न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावै बाल ॥

सम्यक् द्रष्टा पुरुष घर-गृहस्थी के बीच ऐसे ही रहता है जैसे धाय बच्चे को खिलाती-पिलाती है। बाहर से कर्तव्य का पालन होता है लेकिन भीतर से पकड़-मुक्त, निर्लिप्त।

संसार में रहना बुरा नहीं है, बुराई तो तब आती है जब संसार हमारे हृदय में रच-बस जाता है। कमल के लिए खतरा तभी है, जब उसकी पंखुड़ियों पर कीचड़ चढ़ जाता है। तुम्हें कोई खतरा नहीं है अगर ऊपर हो कीचड़ से, मायाजाल से, कमल की तरह, कमल की पंखुड़ियों की तरह।

५

पकड़ का छूटना संन्यास की पहल

६ अगस्त १९९१, ऋषिकेश

कुन्दकुन्द-सूत्र

भावो हि पढम लिंगं,
रा दव्वलिंगं च जाण परमत्थं
भावो कारणभूदो,
गुणदोसाणं जिणां बेत्ति ॥

मनुष्य के संसार का बन्धन बड़ा रहस्यपूर्ण है। यह बड़ा दिलचस्प प्रश्न है कि संसार से मुक्ति कैसे हो। मुक्ति तो उससे पायी जाती है जिसने बांध रखा हो। भला संसार को क्या पड़ी है कि वो बांधे रखे। संसार तो तुम्हारी मुक्ति चाहता है। उसने तो पिंजरे का दरवाजा खोल दिया है। तुम ही उड़ नहीं रहे हो, तो इसमें संसार क्या करे।

वास्तव में संसार ने नहीं बांध रखा है। वरन् तुमने ही संसार को पकड़ रखा है, इसलिए संसार से मुक्त होने के लिए संसार की पकड़ छोड़ो। आखिर मकान को तुमने पकड़ रखा है, मकान ने तुम्हें नहीं। धन तुम्हारे पीछे नहीं है वरन् तुम धन के पीछे लगे हुए हो। मकान गिरेगा तो तुम रोओगे, तुम्हारे गिरने से मकान नहीं रोयेगा। पकड़ के सूत्रधार तुम स्वयं हो। इसलिए कृपया, यह मत पूछो कि संसार से मुक्त कैसे हों। समाधान इस बात का चाहो कि पकड़ से मुक्त कैसे हों।

तुम तो मुक्त ही हो। खम्भे को पकड़ कर यह मत पूछो कि मुक्त कैसे हों ! जैसे इसे पकड़ा है वैसे इसे छोड़ दो, यही मुक्ति का मार्ग है। पुरानी कहानियाँ कहती हैं कि तब लोगों के प्राण स्वयं में न होकर किसी और में हुआ करते थे। कभी-कभी ऐसा हुआ करता कि किसी आदमी पर सौ तलवारों के वार के बावजूद उसे मारा नहीं जा सकता था, क्योंकि उसके प्राण स्वयं में नहीं, वरन् किसी तोते में होते। अगर तोते की गर्दन मरोड़ दो तो आदमी अपने आप मर जाता है। पहले जमाने में 'तोतों' में प्राण अटके रहते थे। अब 'तोतों' का स्थान 'तिजोरियों' ने ले लिया है। तिजोरी में धन बढ़ा

और आदमी के प्राण फूल कर कुप्पे हो गये । धन घटा तो प्राण सूख गये । क्योंकि प्राण तिजोरी में अटके हैं । पहले 'नूरजहां' में प्राण अटके थे, बाद में 'ताजमहल' में । अगर यह कहते हो कि 'लैला-मजनू' और 'हीर-रांभा' में सात जन्म का प्रेम है तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हारी पकड़ एक जन्म की नहीं, बल्कि जन्म-जन्मान्तर की है । इसलिए अगर पकड़ ढीली हो जाए तो मुक्ति के आसार साफ नजदीक हो आयेंगे ।

दो बच्चे आपस में भगड़ रहे थे । एक कह रहा था, तू झूठ बोल रहा है—'वह कार मेरी है' । दूसरे ने तेवर बदलते हुए कहा कि नहीं वह मेरी कार है ।

मैंने सोचा ये बच्चे किस कार के लिए भगड़ रहे हैं क्योंकि वहाँ तो कोई कार थी ही नहीं । मैंने उनसे भगड़ने का कारण पूछा तो वे कहने लगे कि हम खेल, खेल रहे हैं । खेल यह है कि रास्ते पर गुजरने वाली कार को जो पहले देख लेगा वह उसकी होगी । मेरा एक सौ बारह प्वाइंट है और इसका एक सौ तेरह । अभी कुछ सेकेण्ड पहले यहाँ से जो कार गुजरी, यह कहता है कि पहले कार पर उसकी नजर पड़ी, जबकि मेरा दावा यह है कि पहले तो मैंने ही देखी थी ।

मैंने पाया कि यह खेल नहीं वास्तव में मेरेपन की पकड़ है । रोड पर चलने वाली कार को भी हम अपनी कहने पर तुले हुए हैं । भिखारी सड़क पर बैठते हैं और उसे भी अपनी मान लेते हैं । जहाँ जो भिखारी भीख मांगता है, वहाँ कोई दूसरा नहीं बैठ सकता । मानो उन्होंने वहीं बैठने का बीमा करा रखा हो ।

संसार से मुक्त होने के लिए संसार की पकड़ छोड़ो। जीवन के अतीत को पढ़ोगे तो पकड़ ढीली होगी। जीवन का अतीत ठीक वैसा ही है जैसे उपन्यास के पढ़े हुए पन्ने होते हैं। मरते वक्त कोई हमारे साथ नहीं होता, साथ होती है केवल स्मृतियों की पोटलियां। स्मृति उतनी ही तीव्रतर और प्रगाढ़तम होती है, जितनी मजबूत पकड़ होती है। धन नहीं, वरन् धन की पकड़ छोड़ना जरूरी है। संसार की बजाय संसार की पकड़ छोड़नी चाहिए। पकड़ का छूटना ही जीवन में 'संन्यास का शंखनाद' है।

त्याग के दो रूप होते हैं, जिनमें एक बाहरी है और दूसरे का सम्बन्ध हमारे भाव-जगत से है। धन को छोड़ना, त्याग का गेरुआं बाना पहनना है। धन की पकड़ छोड़ना मन को रंगाना है। 'मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा', मुक्ति अब तक इसलिए न मिल पायी क्योंकि घरबार के त्याग को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया। एक मत के अनुसार मुक्ति पाने के लिए मुनि बनना अनिवार्य है और मुनि बनने के लिए 'नग्न' होना पहली शर्त है। उसके अनुसार मुनि तब तक मुनि नहीं, जब तक वह 'नग्न' नहीं है। उसका कहना है कि महिलाएं मुक्ति नहीं पा सकती, इसलिए क्योंकि वे 'निर्वस्त्र' नहीं हो सकती।

त्याग की यह मिसाल बाहरी पहचान भले ही हो जाय, पर अन्तर-क्रान्ति का वस्त्रों को रंगाने और हटाने से कोई

मौलिक सम्बन्ध नहीं है। ऐसा नहीं कि नग्न होने से मुक्ति मिल जायेगी और अंगोच्छ्रा पहन लेने से नरक की सीढ़ियां नजर आ जायेंगी। परिग्रह का परित्याग करने के लिए छूटना चाहिए ग्रहण भाव/पकड़ भाव। 'मुच्छ्रा परिग्रहो वुत्तो'। मूच्छ्रा ही परिग्रह है। मूच्छ्रा पकड़ है, मूच्छ्रा का त्याग ही अपरिग्रह की अर्थ-अस्मिता है।

कुन्द-कुन्द का वक्तव्य है—

भावो हि पढमलिंगं एा दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।

भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणां बेति ॥

भाव ही प्रथम लिंग है। इसलिए द्रव्यलिंग को परमार्थ मत जानो। वास्तव में भाव ही गुणदोषों का कारण है।

'भावलिंग' जीवन की धार्मिकता का प्रतिनिधित्व करता है। 'लिंग' का अर्थ है वह स्वरूप जिससे पहचान होती है। माला, छापा, तिलक, बाना, मोरपिच्छी, कमण्डल, दण्ड, काषाय चीवर—ये सब व्यावहारिक पहचान और व्यावहारिक संयम के लिए हैं। इनकी अपनी उपयोगिताएं होती हैं, किन्तु भाव-रहित अपनाया गया कोई भी लिंग, वेष उतना ही महत्त्व रखता है जितना गंजे के सिर पर 'हेयर-विग'। जब तक मन में जहर भरा हुआ है तब तक सर्पराज चाहे काषाय ओढ़ ले या गेरुआं, शेर की खाल ओढ़ लेने मात्र से गीदड़ शेर नहीं हो जाता। 'सिंहत्व' ही शेर की पहचान है। वेष

परिवर्तन, नाम परिवर्तन और स्थान-परिवर्तन ही साधुत्व की सही कसौटी नहीं है। यहाँ से साधुत्व की शुरुआत भले ही मानी जाती हो, उसका विकास तो भावनिद्रा के टूट जाने पर ही सम्भव है।

द्रव्यलिंग तो हर किसी के बलबूते की बात नहीं हो सकती। भावलिंग तो विचारों के परिवर्तन की कहानी है।

संन्यास विचारों की आध्यात्मिक क्रान्ति है। यदाकदा ऐसा होता है कि व्यक्ति किसी की प्रेरणा से, उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षित संन्यस्त हो जाता है।

किसी की प्रेरणा से जीवन भर के लिए साधु का बाना तो पहन लेता है मगर जीवन भर के लिए आचार-शुद्धि, भाषा-शुद्धि, विचार-शुद्धि और मनो-शुद्धि की पहल कठिन है। बाहर का त्याग-वैराग्य, महत्त्व अवश्य रखता है, किन्तु जीवन के मूल्य अन्तर-प्रवृत्तियों पर आधारित हैं। त्याग की महिमा भीतर भी हो और बाहर भी। बाहर हो पर भीतर न हो तो जीवन के अन्तस्तल में अध्यात्म प्रतिष्ठित न हो पायेगा। भीतर हो पर बाहर न हो तो पूर्ण न होते हुए भी अपूर्ण न कहलायेगा। जहाँ बाहर और भीतर दोनों के बीच सन्तुलन का समायोजन है, वहाँ 'रिम-भिम, रिम-भिम बरसे नूरा, नूर जहूर सदाभर पूरा'। जैसा भीतर है वैसा ही बाहर हो। जैसा बाहर है वैसा ही भीतर संचरित हो। बाहर का त्याग

तभी सच्चे अर्थों में अपनी महनीयता को शिलालेखित कर पाता है, जब बाहर का त्याग भीतर से अभिव्यक्त हो ।

कुन्दकुन्द स्वयं विरक्त अध्यात्म सन्त थे । संन्यास के बाहरी तौर-तरीकों के हिसाब से उन्होंने जो कुछ भी त्यागा, वह फकीरी का शिखर रूप था । कुन्दकुन्द बनवासी रहे । गुफाओं में ही साधना की और बाने के नाम पर नग्नता थी । जैसे महावीर नग्न रहे वैसे कुन्दकुन्द भी नग्न रहे । भोजन के नाम पर एक दिन में एक समय भोजन किया । पर इतना कुछ होते हुए भी कुन्दकुन्द ने यह कहने का साहस दिखाया कि द्रव्यलिंग/वेश-विधान को परमार्थ मत जानो । कुन्दकुन्द ईमानदार रहे । ईमानदार ही ऐसी बात कह सकता है । जितने ईमानदार कुन्दकुन्द मिलेंगे, उतने उनके अनुयाई नहीं । कुन्दकुन्द को मानने वाले तो कहते हैं द्रव्यलिंग पहला चरण है । वे कहते हैं नग्नता तो मुक्ति का पहला सूत्र है । बिना नग्न हुए वे मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार नहीं करते । अगर ऐसा है तो उनकी मुक्ति भी वैसी ही संकीर्ण है जैसी संकीर्ण उनकी मान्यता ।

नग्नता को भी उन्होंने साधु का एक बाना बना लिया है । जबकि नग्नता तो बानों से मुक्त है । मेरा निवेदन तो यह है कि नग्नता अगर स्वाभाविक तौर पर खिल आये तो उसे प्रेम से स्वीकार कर लेना चाहिए । नग्नता के लिए भी जोर-जबरदस्ती ! तुम कहोगे साधु बनना है तो पहले अपने

कपड़े उतारो, नंगे होओ। साधुता की बड़ी खतरनाक प्रक्रिया अपना रखी है। नग्न करके यदि साधु-संन्यासी को बनवासी बना दो तो खतरे फिर भी कम हैं। तुम एक व्यक्ति को नग्न करके शहर में भेज रहे हो। नग्नता बनवासी के लिए है, शहर के लिए नहीं। यह प्रयास तो बनवासियों को शहर में लाने के हैं और शहरवासियों को बनवास देने के। यदि सारा शहर जंगल में चला गया तो जंगल, जंगल कहाँ रहेगा, जंगल शहर बन जायेगा।

बाह्य परिवर्तन को इतना अधिक मूल्य मत दो। स्वाभाविक तौर पर बाह्य क्रान्ति सम्भव हो तो उसका स्वागत करो। अन्यथा जीवन मूल्यों की परिशुद्धि पर ही अपना ध्यान और चिन्तन केन्द्रित करो। नग्न है तो साधु मानते हो और बेनग्न को अमुनि। यह साधुता का सही मापदण्ड नहीं है। कुन्दकुन्द तो कहते हैं—सुत्ता अमुणि, असुत्ता मुणि। जो सुप्त है, मूर्च्छित है, वह अमुनि है। जो अमूर्च्छित है, असुप्त जागृत है, वह मुनि है। इस नग्नता के चलते हमने अपनी दृष्टि कितनी संकुचित बना ली है। पुरुष तो फिर भी नग्न हो जायेगा, नारी नग्न न हो पायेगी। हालांकि नारी भी निर्वस्त्र हो सकती है। पर इस दूषित समाज के चलते नहीं। महिला सन्तों में केवल लज्जा ही निर्वस्त्र हुई है। पुरुष तो कपड़े ओढ़ कर भी नंगा ही है। देख नहीं रहे हो उसकी आँखों में झलकती वासना। रास्ते पर ही क्यों न चलना हो, उसकी दृष्टि नारी के जन्मस्थल और

वक्षस्थल पर ही घूमती रहती है। तुम्हारे स्वभाव में तो है वासना और बाना है ब्रह्मचर्य का, यह सहज मार्ग नहीं वक्र मार्ग है। ब्रह्मचर्य का बाना तो तब सार्थक होता है, जब अन्तस्थल में ब्रह्म की वासना मुक्त चर्या होती है।

राजचन्द्र जैसे अध्यात्म साधक कहते हैं—

वह साधन बार अनन्त कियो ।

तदपि कछु हाथ हजु न पड्यो ॥

ऐसा नहीं है कि हमने अब तक कभी साधु जीवन अंगीकार न किया हो। अपने गुजरे हुए जन्मों में कई बार साधु बने होंगे, फिर भी स्थिति तदनु रूप ही है। यम किये, नियम लिये, संयम भी पाला, बनवास भी लिया, पद्मासन भी किया, मौन प्राणायाम भी किया, शास्त्र भी पढ़े और शास्त्रार्थ भी किया। इसके बाद भी तुम्हारे क्या हाथ लगा ?

जो हुआ बाह्य भूमिकाओं पर आधारित था। अगर जुड़े होते अन्तस्थल से तो भावश्रेणि के मार्ग से कहाँ के कहाँ पहुँच गये होते। स्थिति तो यह है कि हम अपनी पन्द्रह आना जिन्दगी तो दुनियादारी/दुकानदारी में पूरी करते हैं। धर्म-ध्यान में तो मुश्किल से एक आना जिन्दगी जाती होगी और वह भी ऊपर-ऊपर। पन्द्रह मिनट मन्दिर में लगाते हो और पौने-चौबीस घण्टे संसार में। पाना तो चाहते हैं, परमात्म स्वरूप को और उसे रख छोड़ा है अपनी आवश्यकताओं की कतार में सबसे अन्त में।

मन्दिर में पुजारी ने किसी से पूछा कि तुम्हारी पहली आवश्यकता क्या है। उसने कहा 'सुन्दर पत्नी' कहा, दूसरी, बोला 'भारुति बैन', पूछा तीसरी, जबाब मिला—'अपना मकान'। आवश्यकताओं की कतार में उसने बीसों चीजें गिना दी, मगर परमात्मा का तो उस कतार में कहीं नम्बर नहीं आया। घर में बैठ कर भी कार के बारे में सोचते हो और मन्दिर में जाकर भी। संसार में रहकर संसार के बारे में सोचा तो बात मामूली है। खतरा तो तब है जब मन्दिर में जाकर भी सांसारिकता के बारे में सोचते हो। नतीजा यह होगा कि मन्दिर-मन्दिर न रह पायेगा। मन्दिर भी संसार और बाजार हो जायेगा।

परमात्मा तब मिलते हैं, जब आवश्यकताओं की कतार में सबसे पहली आवश्यकता परमात्मा ही हो। परमात्मा तो तब मिलते हैं जब उसे पाने के लिए, अपना सब कुछ बलिदान करने के लिए तैयार होओ।

धर्म कोई ऐसी चीज नहीं है कि पन्द्रह मिनट तो धर्म करें और पौने चौबीस घण्टे धर्म के विपरीत चलें। धर्म तो जीवन की परछाईं होनी चाहिए। न केवल हमारा हर वर्ग, बल्कि हर सांस भी धर्म के संगीत से परिपूर्ण हो। नहाने के लिए तालाब में उतरते हो और बाहर निकलते ही अपनी सूंड में धूल, कर्दम अपनी पीठ पर उंडेलते हो। यह वास्तव में आत्म-पवित्रता की शक्ति नहीं, वरन् क्रान्ति है। भाव-स्वरूप

को महत्त्व देने वाला ही शान्ति को समझ सकता है और भीतर तथा बाहर के अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त निर्द्वन्द्व हो सकता है। वास्तव में भाव ही गुण दोषों का मूल कारण है, बाहर का त्याग और भीतर का त्याग ऐसी दोहरी भूमिकाओं की बजाय हमें उस तल पर आना चाहिए, जहाँ बाहर-भीतर का भेद ही न रहे। जीवन में ऐसी रोशनी प्रकट हो जानी चाहिए जो भीतर और बाहर समान रूप से प्रकाश फैलाये, अन्धकार हटाये।

६

ध्यान : मार्ग एवं मार्गफल

१० अगस्त १९९१, ऋषिकेश

कुन्दकुन्द-सूत्र

तिपयारो सो अप्पा,
परमंतर बाहिरो हु देहीणं ।
तत्थ परो भाइज्जइ,
अंतोवाएणा चइवि बहिरप्पा ॥

‘कुन्दकुन्द’, आत्मवाद के प्रस्तोता हैं। उनके चिन्तन के सारे कबूतर, आत्मा के ही आकाश में उड़ते हैं। वे चाहे जिस मार्ग की चर्चा करें, उस मार्ग का मार्गफल तो आत्मा में ही निष्पन्न होगा। इसलिए आत्मा ही उनका आदर्श है और आत्मा ही यथार्थ है।

‘आत्मा’ एक ऐसा शब्द है जो अपनी संचेतना का, सेल्फ कॉन्सियसनेस का पर्याय है। यह, वह ऊर्जा है जो मन, वचन और शरीर/बदन में रहते हुए भी उनसे अलग भी अपना अस्तित्व रखती है। आत्मा का कभी-कभी मन के पर्याय रूप में भी उपयोग किया जाता है। आदम लोग आत्मा को भौतिक वस्तु मानते थे। खून और सांस जैसी चीजें ही आत्मा कहलाती थीं। अब ऐसा नहीं है। यह सही है कि सांस आत्मा की परिचायक है। पर आत्मा पूर्णतः सांस नहीं है। वह तो सब सांसों के सांस में है। सांस तो शरीर और आत्मा के संयोग को बनाये रखने की कड़ी है। इसलिए अगर आत्मा अनुभूति है तो सांस उसकी अभिव्यक्ति।

धर्म में आत्मा को अशरीरी माना जाता है। यह वह शक्ति है, जो भिदती नहीं है इसलिए अभेद्य है, यह मरती भी नहीं है इसलिए यह अमर है। यह जन्म और मृत्यु के बीच ही नहीं, जन्म और मृत्यु के पार भी अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ है। आत्मा, मरणधर्मा नहीं है मरण धर्मा तो शरीर है। आत्मा तक मृत्यु की पहुँच नहीं है। पर हाँ, मृत्यु उन सबको तो गिरा ही डालती है जिनसे ‘आत्मा’ अभिव्यक्त होती है।

आत्मा अमर है, अभौतिक शक्ति है, जिसका अस्तित्व शरीर में और शरीर के बाहर भी बना रहता है। स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ है। अफलातून ने आत्मा को 'शाश्वत प्रत्यय' कहा है। प्रत्यय वह है जिसकी प्रतीति हो सके। आत्मा अनुभव गम्य है। आत्म ज्ञान का अर्थ ही आत्म प्रतीति है। आत्मा तक पहुँचने के लिए हमें उन सारे तादात्म्यों से ऊपर उठना होगा जो आत्म-अतिरिक्त हैं। ऊपर उठने का अर्थ स्वयं का किसी से विच्छेद नहीं है वरन् अपनी पंखुड़ियों को कीचड़ से लिप्त होने से बचाना है। जैसे नौका सागर में चलती है, सागर से अलग होकर नहीं वरन् सागर से ऊपर उठकर चलती है। देहातीत होने का मायना यही है कि अपने आपको देह से ठीक वैसे ही उठा लो जैसे नौका सागर से ऊपर होती है। नौका साधन है, पार लगने का। पर तभी, जब नौका सागर से ऊपर हो। जहाँ नौका पर सागर आना शुरू हो गया, वहाँ नौका, नौका न रह पायेगी पत्थर की शिला हो जायेगी, वहाँ पार लगना, हो ही न पायेगा, मंभधार में ही डूबना होगा।

शरीर भी साधन है 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। शरीर धार्मिकता का साधन है। साधन तभी तक सहायक होता है जब तक साधन हावी न हो। साधन का साध्य पर चढ़ आना ही पुरुषार्थ का असाध्य रोग है। संसार, सागर है। शरीर, नौका है जीव, नाविक है। साधक लोग समझदारी और जागरूकता की पतवारों से पार हो जाते हैं। स्वभाव में जीना ही आत्म-जीवन है। विभाव से स्वभाव में चले आने का नाम ही अध्यात्म-यात्रा है।

आत्मा तो जीवन की आजाद हस्ती है। इसकी अनुभूति नितान्त निजी और व्यक्तिगत होती है। खुफिया भी इतनी कि किसी को कानोंकान खबर भी न हो। इसलिए अध्यात्म की प्रयोगशाला में होने वाले आत्मा के अनुभव आत्यन्तिक गोपनीय रहते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में जो महत्त्व 'प्रयोग' का है, अध्यात्म के क्षेत्र में वही 'अनुभव' का है। विज्ञान के प्रयोग ही अनुभव हैं और अध्यात्म के अनुभव ही दूसरे शब्दों में 'प्रयोग' हैं। विज्ञान का मार्ग प्रयोग से अनुभव की ओर ले जाता है जबकि अध्यात्म, अनुभव को ही प्रयोग मानता है। इसलिए अगर तुम वैज्ञानिक बुद्धि रखते हो तो अध्यात्म के मार्ग पर तुम्हारी बुद्धि बाधा बन जायेगी। बात-बात में शक-शुबह होगा। यहाँ प्रत्यक्ष प्रयोग कम, संकेत ही अधिक मिलेंगे। निजत्व की प्रयोगशाला, है ही कुछ ऐसी।

अध्यात्म की डगर पर पाँव अंगड़ाई ले, सौभाग्य की बात है, जहाँ से चल रहे हो अच्छी तरह से पहले आश्वस्त हो लो। कहीं ऐसा न हो कि पाँव बढ़ने के बाद तुम्हें प्रस्थान बिन्दु या पदचिह्न याद आये।

संन्यास, आत्मा के प्रति विश्वास है। यह संसार की स्मृति नहीं वरन् संसार की विस्मृति है। जिसे संसार की सही समझ पैदा हो गई, वह संन्यास के माहौल में आकर संसार की याददाशती से नहीं गुजरते। संसार का राग, संसार छोड़ने से नहीं टूटता वरन् समस्त पूर्वक आने वाली निर्लिप्तता से छूटता है।

मुक्ति के दो ही सूत्र हैं—सर्वप्रथम तो यह अहसास हो कि जहाँ हम हैं, वहाँ आग धधक रही है और दूसरा यह कि

जिस दिशा में छलांग मारना चाहते हैं, वहाँ अमृत की रिमझिम-रिमझिम बरसात है। इसलिए दो चीजों की जरूरत है—आग का बोध और सावन का बोध। आगे कदम वही बढ़ायेगा जो अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट है। अगर हमें लग रहा है कि हमारी शय्या फूलों पर है तो अन्य किसी विकल्प की तलाश हमारा मन कबूल ही नहीं करेगा। हम पड़े तो हैं कांटों के बिछौनों पर, और कांटों को फूल समझ लिया है। यह हमारा अज्ञान है। अज्ञान ही परतन्त्रता और तादात्म्य का सेतु है।

सेतु केवल ज्ञान का होता हो, ऐसा नहीं है। अज्ञानता ही सेतु होता है। ज्ञान का सेतु, उस पार से इस पार लाता है। यह विभाव से स्वभाव की ओर लौटने की यात्रा है।

अज्ञान, ज्ञान का अन्धापन है। यह ज्ञान का विपर्यय है। अज्ञान इस किनारे से उस किनारे की ओर जाना है। यह स्वभाव से विभाव की यात्रा है। इस किनारे का अर्थ है—‘ब्रह्म विहार’ और उस किनारे का अर्थ है—‘लोकविहार’। हमें इस किनारे का, अपने किनारे का स्वामी होना है। जाना कहीं नहीं है। जहाँ-जहाँ गये हैं महज वहाँ से लौटना है।

तीर्थकर होने का मायना यही है कि उस किनारे से इस किनारे पर पहुँच गया। लोगों ने तो अर्थ लगाया है इस पार से उस पार जाने वाला व्यक्ति तीर्थकर है। उनकी दृष्टि में यह किनारा संसार है और वह किनारा—‘मुक्ति’, जबकि सत्य यह है कि वह किनारा संसार है और यह किनारा—मुक्ति। इस किनारे से उस किनारे की यात्रा तो अतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण तो, वापसी की प्रक्रिया है। चित्त की प्रवृत्तियाँ जहाँ-जहाँ हुई हैं, वहाँ-वहाँ से स्वयं का लौट आना, अन्तर्मन्दिर की तीर्थयात्रा है।

आत्मा, हमारी मूल सम्पदा है। वह कहीं और नहीं, कस्तूरी तो कुण्डल में ही समायी है। कबीर का बड़ा प्रसिद्ध सूक्त है—‘कस्तूरी कुण्डल बसै’। हमारी सम्पदा स्वयं हमारे पास है, मूढ़ पुरुष संसार के रेगिस्तान में महक का मारा, दर-दर भटक रहा है। सब कुछ विक्षिप्त और लहलुहान हुआ चला जा रहा है। इसलिए आत्मा की खोज किसी चीज को तलाशना नहीं है, यह तो स्वयं का स्वयं में होना है।

सुख और आनन्द का मूल स्रोत तो अन्तर्जगत की ही जमनोत्री में है। बाहर के जगत में, सुख के कोरे संवाद मिल सकेंगे, मगर यह मत भूलो कि जिनसे हम सुख के संवाद कर रहे हैं, वे पहले से ही दुःखी हैं। अपना दुःख हल्का करने के लिए पड़ौसी के घर जा रहे हैं जबकि पड़ौसी खुद पहले से ही परेशान है। यों दुःख हल्का नहीं होता बल्कि सान्त्वना के नाम पर दुःख का विनिमय होता है। हम अपना दुखड़ा रो रहे हैं और पड़ौसी अपना दुखड़ा। किसी से तसल्ली पाने के बजाय उस कारण को ढूँढ़ने का प्रयास करें जिससे दुःख पैदा होता है, उस स्थान को तराशने की चेष्टा करें जहाँ दुःख के काँटे लगे हैं। हमारा मन ही तो वह स्थान है, कषाय और राग-वैमनस्य ही तो वे कारण हैं, जिनसे तनाव, घुटन और वैचारिक प्रतिस्पर्धा है।

दुःख से ऊपर उठने का पहला मार्ग ही है कि दुःख को भूल जाओ। रोग है तो शरीर को भूल जाओ, तनाव है तो विचारों से ऊपर उठ जाओ, नींद में भी विक्षिप्तता है तो मन से मुक्त हो जाओ। संगीत सुनो, शरीर से विचारों में चले जाओगे। ध्यान करो, विचारों से मन में चले जाओगे। शून्य शांत हो जाओ, मन के भी पार हो जाओगे। आत्मा, मन-वचन और शरीर का अगला चरण है। परमात्मा, आत्मा की ही प्रकाशमान चैतन्य दशा है।

कुन्दकुन्द, जीवन के इस अनूठे विज्ञान से गहरे परिचित थे। आज के सूत्र में वे परमात्मा के ध्यान का प्रतिपादन करेंगे। परमात्मा का ध्यान करने की प्रेरणा देंगे, किन्तु उन्होंने अपने सूत्र में कुछ ऐसे सूत्रों का प्रयोग किया है जिन्हें मैं परमात्म-ध्यान की भूमिका कहूँगा। अगर अब तक परम सत्य से साक्षात्कार नहीं हुआ तो इसका अर्थ यह नहीं कि परम सत्य बीत गया है। तुमने सीधी छलांग भरनी चाही जबकि साधना तो इंच-दर-इंच, कदम-दर-कदम बढ़ना है। यह रास्ता इतना फिसलन भरा/काई जमा है कि पांव जमने कठिन लगते हैं। अपने विवेक के पांवों को मजबूत करो। आँखे खुली हों—सामने की ओर। जैसे ही पीछे भांका, चूक जाओगे, अतीत की याद और अतीत के सपने साधना के मार्ग पर सबसे बड़ी फिसलन है।

कुन्दकुन्द, आत्म दृष्टा हैं। अतीत वे भी जी चुके हैं, पर भविष्य में अतीत की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते।

वे वर्तमान अनुपश्यी हैं। उनकी अनुप्रेक्ष्या, वर्तमान से जुड़ी है। वे वर्तमान को इतना उज्ज्वल बना लेना चाहते हैं कि भविष्य की ऊँची सम्भावनाएं, वर्तमान में ही साकार हो जायें। बाहर से हटो अन्तर में लौटो और 'परमात्मस्वरूप में तल्लीन हो जाओ', यही कुन्दकुन्द का अध्यात्म है।

उनका सूत्र है—

तिपयारो सो अप्पा, परमंतर बाहिरो हु देहीणं ।

तत्थ परो भाइज्जइ, अंतोवाएण चइवि बहिरप्पा ।

'आत्मा तीन प्रकार की है—अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। अन्तरात्मा के उपाय द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

आत्मा के तीन रूप हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो बाहर है वह बहिरात्मा है। जो अन्दर है वह अन्तरात्मा है। परमात्मा, बाहर और भीतर के द्वैत से मुक्ति है।

बहिरात्मा संसारी है। अन्तरात्मा संन्यासी है। परमात्मा संबुद्ध है।

बहिरात्मा के फूल बिखरे हैं, अन्तरात्मा ने पिरो रखे हैं। परमात्मा, फूलों का इत्र है।

परपदार्थ में सत्व को नियोजित करने वाला बहिरात्मा है। स्वयं की ओर लौटना अन्तरात्मा है। परमात्मा, कैवल्य स्वरूप में स्थितप्रज्ञ होना है।

जो मूर्च्छित है, वह बहिरात्मा है। जाग्रत पुरुष अन्तरात्मा है। परमात्मा स्वयं की परास्थिति है। जो स्वयं को पूछता है कि मैं कौन हूँ, अन्तरात्मा वही है। अन्तरात्मा, वस्तुत्व का ज्ञाता है, निजत्व का साक्षी है, जिसे स्वयं से कुछ पड़ी ही नहीं है। प्रतिबिम्ब को ही बिम्ब मान रखा है, वही बहिरात्मा है। परमात्मा तो स्वयं की समग्रता का स्वयं में अधिष्ठान है।

कुन्दकुन्द कहते हैं कि अन्तरात्मा के उपायों के द्वारा बहिरात्मपन को छोड़ो। पता है, बहिरात्मपन का सम्बन्ध किससे है? किससे छोड़ोगे इसे? मन, वचन और काया से बहिरात्मपन को छोड़ो और अन्तरात्मा में आरोहण करो। परमात्मा का ध्यान तभी सध पायेगा। परमात्मा का ध्यान तो आखिरी चरण है। बहिरात्मपन को छोड़ना पहली शर्त है और अन्तरात्मा में आरोहण करना दूसरी शर्त। बाहर के रास भी रचाते रहो और आत्मजगत का कार्य भी साधना चाहो तो कैसे सम्भव होगा? एक पंथ दो काज वाली उक्तियाँ जीवन-विज्ञान में लागू नहीं होती। यहाँ तो एक पंथ और एक काज होता है। दोनों में रस लोगे, तो न इधर के रहोगे न उधर के। अजीब खिचड़ी बन जायेगी।

हम अब तक ऐसा ही तो करते चले आये हैं। कुछ देर धर्म कर लेते हैं और कुछ देर बेईमानी। मन्दिर में तो जाकर परमात्मा की पूजा करते हैं और बाजार में आकर मिलावट-खोरी। जिस दिन बाजार भी तुम्हारे लिए मन्दिर हो जायेगा

परमात्मा का ध्यान उसी समय अपनी सार्थकताओं को छू देगा ।

कुन्दकुन्द की साधना प्रक्रिया में बहिरात्मपन पहली बाधा है । मन, वचन और काया का सम्मोहन ही बहिरात्मपन की आधारशिला है । शरीर स्थूल है । विचार, सूक्ष्म शरीर है । मन, विचारों का कोषागार है ।

शरीर तो हमें दिखाई पड़ता है पर शरीर के पर्दे के पीछे विचारों की सघन पर्तें हैं । मन की परत शरीर और विचार की पर्तों से अधिक सूक्ष्म है । मन ही तो वह मंत्रणा-कक्ष है जहाँ से विचार, शरीर और संसार की सारी तादात्म्य भरी गतिविधियाँ संचालित होती हैं ।

इसलिए पहली परत है—‘शरीर’ । देहातीत होने का अर्थ वही है कि शरीर के प्रति स्वयं का सम्बन्ध शिथिल कर दो । जो व्यक्ति शरीर के प्रति जितना अधिक आसक्त है, शारीरिक पीड़ाएं उसे उतनी ही व्यथित करती हैं । भले ही घाव हो, बुखार हो या और कोई वेदना हो यदि देहातीत होकर जीते हो तो तुम रोग को जीत जाओगे । हमारे शरीर में कोई फोड़ा हो, फिर भी अगर हम मुस्कुराते हैं तो इसका मायना यह हुआ कि देह से अलग होने की शक्ति हममें आ गई है । देह भाव को कम करो, तो देह से अलग होना आसान है । योगासनों का महत्त्व देह भाव से ऊपर उठने के लिये ही है ।

योग में श्वांस-पथ के जरिये देह से विचारों में प्रवेश किया जाता है। प्राणायाम, देह से परास्थिति है। विचार, शरीर से गहरी परत है। विचारों की, संस्कारों की, धारणाओं की कितनी गहरी पर्तें जमीं है हमारे भीतर। विचारों की यात्रा अनथक चालू रहती है। दिन हो या रात विचार हमें चौबीस घण्टे घेरे रहते हैं। खाओ, पियो, उठो, सोओ, कुछ भी करो, विचारों की परिधि तो हर समय अपना घेरा बांधे रखती है। विचारों की उच्छृंखलता समाप्त करने के लिये ही तो नाम-स्मरण और मंत्र-जाप का मूल्य है।

कभी ध्यान दिया ? कि हम विचारों और शब्दों में कितना जीते हैं। शब्द न भी उचारो तब भी चुप कहाँ हो। जो चेहरा तुम्हें शांत दिखायी देता है, क्या कभी पता किया कि उसका मन कितना बड़बड़ा रहा है। विचार तो शांत नहीं है और तुम जाकर बैठे हो हिमालय में, संस्कार हैं संसार के और आसन है गुफा में, यह कैसा विरोधाभास पाल रहे हो ? गुफा में जाकर बैठने मात्र से मन का मिमियाना बन्द नहीं होगा। विचारों को पढ़ने और समझने से विचारों के प्रति आसक्ति टूटेगी। इसलिए कभी अकेले में बैठकर अपने विचारों को ठीक वैसे ही पढ़ने की कोशिश करना जैसे किसी दूसरे का चरित्र पढ़ते हो।

शरीर और विचार की अगली परत है—'मन'। मन वह है जो अभी तक विचार नहीं बना है। मन, बीज है।

विचार, बीज का अंकुरण है। शरीर की गतिविधियां तो उसी बीज की फसल है।

तादात्म्य है, इसीलिए तो शरीर को भूख लगने पर कहते हो कि मुझे भूख लगी है। उत्तेजना पैदा होती है विचारों में जब कि तुम कहते हो—‘मैं उत्तेजित हूँ।’ सम्मोहित हुआ है—‘मन’ पर तुम कहते हो कि मैं फिदा हूँ। जो यह समझता है कि मैं मात्र विशुद्ध अस्तित्व हूँ। मन, वचन और शरीर के साथ मेरा मात्र सांयोगिक सम्बन्ध है। उनकी भाषा सिर्फ इतनी ही होगी—‘भूख लगी है।’ ‘मैं उत्तेजित हूँ’, ऐसा नहीं मात्र इतना ही कहेगा—‘उत्तेजना है’। जहाँ मैं को जोड़ा वहीं चूक गये। मन से अलग होना, कठिन इसलिये है क्योंकि यह हम पहचानते ही नहीं कि हम मन से अलग हैं। हम मन हैं, ऐसा मानना ही तो मन की गुलामी है। मन में चाहे अच्छा आये और बुरा उसका जिम्मा हम पर नहीं है। हम पर केस तो तब चलेगा जब हमारी कृति मन के मुताबिक होगी, जो यह मानता है कि मैं मन नहीं हूँ, मन की बुराईयों का उससे कोई ताल्लुकात नहीं।

चूँकि मन में विकार है, इसलिए वह इधर-उधर डोलता है, नींद हो, तब भी वह जोर पकड़ता है। विवेक ही वह मीडिया है, जो मन को रोकता है। अपने विवेक को होश में लाओ और विवेक से उसे अपने से अलग पहचानो। मन के अनुकूल होना भी ठीक नहीं है और हठात् उसके

खिलाफ जाना भी उचित नहीं है। मार्ग तो 'तटस्थता' है। तटस्थ होकर देखो, उसे पहचानो।

मन से मुक्त होने के लिए हम इसकी स्थिति को समझें। फ़ॉयड ने मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं पर लम्बा-चौड़ा विज्ञान उपस्थित किया है। वास्तव में मन की भी तीन पर्तें हैं—अचेतन, अर्वाचेतन और चेतन। अचेतन मन, गहरी नींव है। यही तो मनुष्य के जीवन का भाग्य निर्धारित करता है। आक्रामकता की सहज वृत्ति, अचेतन मन के कारण ही निष्पन्न होती है। हमारे समस्त संवेग और अनुभवों का मर्म, यही अचेतन मन है।

अर्वाचेतन मन चेतन और अचेतन दोनों के बीच का विशेष प्रदेश है। यह सीमावर्ती प्रदेश है। अर्वाचेतन क्षेत्र में ही तो अचेतन वासनार्यें घुस आती हैं और नतीजतन सामाजिक जीवन में अवरोधक काट-छाँट का सामना करना पड़ता है। चेतना, जगत के साथ सम्पर्क-बिन्दु पर मन की सतही अभिव्यक्ति है।

मन, शरीर की सूक्ष्म संहिता है। आत्मा शरीर के हर स्वरूप के पार की स्थिति है। मन से मुक्त होने के लिये या तो मन और विचार को बदल डालो या फिर उन्हें भूल जाओ। मानसिक चंचलताओं को लंगड़ी मारने के लिये मंत्रों का उच्चारण करो। गहन उच्चारण से मंत्र की लय और छन्द में बद्ध होकर विचार सो जाते हैं। जब विचारों से निःस्तब्ध

बनोगे तभी पहली बार जानोगे कि मन के साथ कैसा तादात्म्य था। विचारों की तरंगे अब कितनी शांत हैं। मंत्र, मन तक ले जायेंगे। आत्मा तो मन के भी पार है।

ध्यान ही वह राजमार्ग है, जो हमें बहिरात्मपन से ऊपर उठाएगा। अन्तरात्मा में अधिष्ठित करेगा और परमात्मा के स्वरूप को साधेगा। ध्यान, हमें उस शून्य तक ले जाता है जहाँ हमारी न केवल देहातीत वरन् मनोमुक्त दशा होगी। ध्यान योगों का योग है। मंत्रों का मंत्र है। यह रास्तों का रास्ता है और समाधानों का समाधान है। ध्यान परम आधार है आत्मा तक पहुँचने के लिये। अध्यात्म के सारे मार्ग ध्यान में आकर विसर्जित हो जाते हैं। ध्यान परमात्मा का सागर है, इसकी एक बून्द भी आत्मक्रांति को घटित कर जायेगी। अपना ध्यान अपने श्वास-पथ पर आरूढ़ करो और भीतर की गहराईयों में उतर पड़ो। ध्यान में वैसी घड़ी आती है जहाँ हम सारी चंचलताओं को पूरी तरह से शांत पाते हैं। वहाँ निष्तरंग होती है 'भील'।

जीवन का यह क्षण अन्तर-प्रसन्नता का महोत्सव है। वहाँ मौन बरसता है, शांति लहराती है, आनन्द जगमगाता है। तब की अनुभूति प्यार ही प्यार से छलाछल होती है। अहिंसा और करुणा इतनी जीवंत हो उठती है कि उसकी छलकाहट भी औरों के लिये सत्संग बन जाती है।

एक बात तय है कि जीवन की यह अनूठी यात्रा अन्दर ही अन्दर होती है, आखिर मोक्ष है भी तो अन्दर ही। ऐसा

नहीं कि नरक के ऊपर पृथ्वी ग्रह, इससे ऊपर स्वर्ग और स्वर्ग के ऊपर मोक्ष, जैसा कि नक्शों में दिखाया जाता है। भला, मोक्ष का भी कभी कोई नक्शा होता है। स्वर्ग, नरक और मोक्ष सब हमारे ही भीतर है। बुरा मन 'नरक' है और अच्छा मन 'स्वर्ग'। मोक्ष, मन से मुक्ति है, विचारों का निर्वाण है। ध्यान, मार्ग है जो हमें मोक्ष तक ले जायेगा। जीतेजी मोक्ष और 'महाशून्य' की अनुभूति करा देना ही ध्यान का सफल प्रयोग है। अन्तर्जीवन की प्रयोगशाला में प्रयोगों को व्यावहारिक रूप दें, चैतन्य की दशा को उजागर करें, यही कामना है।

७

नींद खोलें भावों की

११ अगस्त १९९१, ऋषिकेश

कुन्दकुन्द-सूत्र

धम्मेण होइ लिंगं,
ए लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं,
किं ते लिंगेण कायव्वो ॥

मुझे कुन्दकुन्द बहुत प्रिय हैं। प्रिय इसलिए हैं क्योंकि कथ्य की जैसी सम्भावनाएं कुन्दकुन्द में छिपी हैं, वैसी अन्यत्र नजर नहीं आती। कुन्दकुन्द ने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर बारीकी से चिंतन कर उन्हें बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। वे किसी जिन धर्म के समर्थक हैं, इसलिए मैं उन पर नहीं बोल रहा हूँ। कुन्दकुन्द के जीवन में जिनत्व की आराधना थी। उन्होंने सत्य की इतनी बारीक अनुभूति पाई कि केवल उनका जीवन ही उससे प्रकाशवान नहीं हुआ, अपितु उनकी रोशनी सब के कल्याण के लिए फैली।

एक साधु की यही प्रभावना होती है कि उसने जो पाया, उसे संसार को सौंप दे। कुन्दकुन्द के वक्तव्य भी हमारे लिए प्रभावना ही हैं। हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह प्रभावना स्वीकार करे, उसे ठुकराए नहीं। कुन्दकुन्द प्रभावना दे रहे हैं। इसे स्वीकार करो। प्रभावना का अर्थ यह भी होता है कि जो हम अपने लिए स्वीकार करते हैं वही सम्भावनाएं हम दूसरों में भी स्वीकार करें।

प्रभावना हम इसलिए देते हैं ताकि हम दूसरों को अपने गले लगा सकें और दूसरों को इस बात के लिए प्रेरित कर सकें कि वे हमारे गले लग जाएं। यह धर्म प्रभावना है। एक दीपक हजारों दीपक रोशन कर देता है। आचार्य भी एक ऐसे दीपक हैं, जो अपने ज्ञान रूपी दीपक से दुनिया के बुझे हुए हजारों-हजार दीपक रोशन कर दें।

ज्योति की महिमा ही ऐसी है। वह बांटने से बढ़ती है। किसी को अपना धन दोगे तो वह कम हो जाएगा मगर हम

अपनी ज्योति बांटने लगेंगे तो वह कम नहीं होगी, अपितु और बढ़ती चली जाएगी। प्रभावना ठीक ऐसी ही है, जितनी दोगे, बढ़ेगी और एक ज्योतिर्मय संघ का निर्माण होने लगेगा। अन्धकार से अन्धकार बढ़ता है और प्रेम से प्रेम, रोशनी से भी रोशनी वैसे ही बढ़ती है।

‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’, हे प्रभु ! हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर, विष से अमृत की ओर, मृत्यु से जीवन की ओर ले चल। दूसरे शब्दों में, हे प्रभु ! हम ऐसे कर्म करें जिससे हमारा जीवन अन्धकार से प्रकाश की ओर जाए। इसलिए आचार्य ऐसे दीपक हैं जो हमारे बुझे दीपक रोशन करने में सक्षम हैं।

लोग सत्संग में क्यों जाते हैं ? ताकि वहाँ जल रहे दीपक के स्पर्श से वे अपने बुझे हुए दीपक जला सकें। सत्संग से ही हमें ज्योति को पहचान होती है। सम्भव है, आप गुरु के पास जाएं तो वहाँ आपको उनका वक्तव्य सुनने को न मिले, मौन आपका स्वागत करे। उनका मौन, कभी मौन नहीं होता वहाँ प्रभावना हो रही होगी। मौन से बड़ी कोई और प्रभावना हो नहीं सकती।

एक आदमी दिन भर लम्बे-चौड़े भाषण देता रहे और सुनने वालों पर उसका कोई असर ही न हो तो उसका भाषण निरर्थक होगा। इसके विपरीत एक साधु मौन बैठा रह कर

भी जीवन में परिवर्तन की प्रभावना देने में सक्षम हो सकता है। उसका मौन इतना भारी होता है कि हजारों-हजार शब्द भी वहाँ बौने नजर आते हैं।

क्रोध को शांत करने का और कोई उपाय हो या न हो, मौन बड़े से बड़े क्रोध को शांत करने में सक्षम है। क्रोध तभी होता है जब बोलने वाला कोई हो। जहाँ मौन होगा, वहाँ क्रोध कैसे आ सकेगा? आग तब तक ही जलती रहेगी, जब तक उसमें लकड़ियाँ डाली जाती रहेंगी। आग में लकड़ियाँ डालनी बन्द कर दीजिए, वह थोड़ी देर में ही बुझ जाएगी। ऐसा ही क्रोध और मौन का अर्थ है। 'बोल' का ईंधन डालना बन्द कर दीजिए, मौन हो जाइए, क्रोध अपने आप समाप्त हो जाएगा।

आचार्य कुन्दकुन्द के वक्तव्य सचमुच ऐसी प्रभावना हैं कि अगर अपना बुझा हुआ दीप उनके पास ले जाओगे तो उनकी ज्योति से उस दीप को ज्योतित कर सकोगे। वे बांटेंगे तो उनकी ज्योति कम न होगी, हाँ तुम्हारा दीपक जरूर जल जाएगा, तुम अपने आपको रोशन कर सकोगे। 'प्रभावना' शब्द का अर्थ समझने के लिए एक आविष्कारक का नाम लेना आवश्यक समझता हूँ। एक बहुत बड़ा आविष्कारक हुआ जिसका नाम था कार्ल-गुस्ताव-जुंग। कुन्दकुन्द और महावीर ने जिसे प्रभावना कहा, कार्ल-गुस्ताव-जुंग ने 'सिनक्रॉनिसिटी' नाम दिया। इसका अर्थ यह होगा कि वो संगीत, वो तरंग,

जिसके बजने से दूसरा अपने आप प्रभावित हो जाए। इधर तानसेन की स्वर लहरी छिड़ी, उधर जंगल के जानवर भूमने लगे। इधर दीप-राग गाना शुरू किया, उधर दीप जलने लगे। सूरज अगर आसमान में निकलता है तो कमल का खिलना तय है। एक का खिलना, दूसरे के खिलने का कारण बनता है। यही प्रभावना है। इसलिए कुन्दकुन्द के वक्तव्य बहुत प्रभावी हैं। प्रभावनाकारी हैं।

हमें अपना भीतर का दरवाजा खोलने की जरूरत भर है, मेहरबानियां अपने आप चली आएंगी। कुन्दकुन्द की साधना का मार्ग सूक्ष्मतम है। सूक्ष्मतम इसलिए क्योंकि उनकी साधना भीतर से बाहर तक जुड़ी हुई है। यहाँ तक जो अभिव्यक्ति हो रही है, वह अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इसलिए कुन्दकुन्द का चारित्र्य काल्पनिक या आरोपित नहीं है। वह दर्शन से उपजा चारित्र्य है। वह सम्यक् ज्ञान से उद्घाटित और उत्पन्न हुआ चारित्र्य है।

पहली चीज है सम्यक् दर्शन, फिर सम्यक् ज्ञान और अन्त में सम्यक् चारित्र्य। हम उल्टा चलते हैं, पहले सम्यक् चारित्र्य, फिर ज्ञान और अन्त में दर्शन। आदमी पहले साधु बनता है, फिर स्वाध्याय करता है और ज्ञान प्राप्ति का प्रयास करता है।

कुन्दकुन्द अपने मार्ग से चलते हैं। वे किसी की अनुकूलता के हिसाब से कुछ नहीं कहेंगे। कुन्दकुन्द तो वही

कहेंगे, जिससे सत्य उद्घाटित हो सकता हो। इसलिए उनका पहला चरण है सम्यक् दर्शन, फिर सम्यक् ज्ञान और अन्त में है सम्यक् चारित्र्य। केवल चारित्र्य को महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया तो बाहर से तो आदमी बदल जाएगा मगर उसके भीतर बदलाव नहीं आ पाएगा। भीतर विष है, तो शान्त रहने की कोई भले ही प्रतिज्ञा ले ले, पर विष कभी भी प्रकट हो सकता है। इसलिए विष मिटाओ; निर्विष की फुफकार खतरनाक नहीं होती।

एक साधक गुरु की तलाश में इधर-उधर घूमा। अन्त में वह हिमालय में तपस्या कर रहे एक तपस्वी के पास पहुँच गया। महाराज कड़ाके की ठण्ड में एक पांव पर खड़े रहकर तप कर रहे थे। साधक ने सोचा ये गुरु बनाने योग्य हैं। उसने महाराज से कहा—मैं बहुत दूर से और गर्म प्रदेश से आया हूँ। यहाँ मुझे कड़ाके की ठण्ड लग रही है, आप मुझे थोड़ी सी आग दे दीजिए। महाराज ने कहा कि यहाँ आग नहीं है। रहना है तो ऐसे ही रहो। वह थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला—महाराज मुझे आप थोड़ी सी आग दे दीजिए। महाराज ने समझाया कि भइया यहाँ आग क्या एक चिनगारी भी न मिलेगी, क्यों अपना और मेरा समय खराब करते हो, चले जाओ। वह आदमी भी ढीठ था, बोला—महाराज 'इतनी' सी आग दे दीजिए। अब महाराज को गुस्सा आ गया, बोले—'अजीब पागल आदमी हो, मैं कह रहा हूँ कि आग नहीं है और तुम मांगे चले जा रहे हो। अब जो आग

मांगी तो ऐसा श्राप दूंगा कि जल कर भष्म हो जाओगे ।’ वह आदमी कहने लगा—‘आप तो कह रहे थे कि मेरे पास आग है ही नहीं, फिर ये चिनगारियाँ कहाँ से आ रही हैं ।’ साधु बोला, कौन-सी चिनगारी ? जवाब मिला, क्रोध की चिनगारी, जो भीतर से उभर रही है ।

इसलिए जब तक भीतर सम्यक् दर्शन पैदा न होगा तब तक ऊपर का आरोपण भारभूत है । भीतर सम्यक् शुद्धि नहीं है, सम्यक् दृष्टि नहीं है, तब तक पाला गया चारित्र बाहर से तो चारित्र बन जाएगा मगर भीतर चिनगारियाँ शेष रहेंगी । कुन्दकुन्द कहते हैं तूने बाहर से चारित्र भले ही न पाला हो, लेकिन भीतर की चिनगारी शांत कर ली तो वहाँ भीतर का चारित्र अपने आप सध जाएगा ।

सारी दुनिया साधु नहीं बन सकती । जंगल में जाकर आराधना नहीं कर सकती । मगर गृहस्थ में रहकर साधु जीवन तो जिया ही जा सकता है । आप अपने घर में साधु हो जाएंगे । इतना जरूर होगा कि कोई चरणों की वन्दना करने नहीं आएगा । नाम के आगे ‘मुनि’ शब्द भी नहीं लगेगा, मगर इससे आपका साधुत्व कम नहीं होगा । आपको ‘साधु’ बनना है या नाम की भूख है ?

भीतर से साधुत्व जगाना है । अध्यात्म अपनी ही आत्मा की विशुद्धि का नाम है, महती अनुष्ठान है । वह दूसरों के लिए नहीं है, वह केवल अपने लिए है । उसे अपने साथ

जोड़ना है। बाहर से बहुत बदल चुके हो, अब बारी है भीतर से बदलने की।

मैं जब छोटा बच्चा था तो एक बगीचे में जाया करता था। वहाँ के पेड़ों पर गिरगिट बहुत होते थे। मैं गिरगिट को देखता और रंग-परिवर्तन के लिए उसे कंकर मारता। कंकर लगने पर गिरगिट घबराकर अपना रंग बदल लेता। इस प्रक्रिया में मुझे बहुत आनन्द आता। गिरगिट कोई खतरा देखकर अपना रंग बदल लिया करता है, मगर वह रहता तो गिरगिट ही है। रंग बदलने से वह नहीं बदल सकता। सर्प चाहे दुशाला ओढ़ ले या दिगम्बर हो जाए, जब तक उसमें जहर है, वह खतरनाक है और जहर निकाल देने पर वह सर्प ही नहीं रह पाता। जहर समाप्त होने पर वह काटना तो नहीं छोड़ेगा, मगर उसका काटना बाद में नुकसानदेह नहीं होगा। भीतर से बदलाव ही सच्चा बदलाव है।

साधना की शुरुआत हमेशा भीतर से होती है। आत्म-विशुद्धि की शुरुआत भी भीतर से ही होती है। जहाँ भीतर से बेहोशी चली गई, वहाँ चारित्र्य अपने आप सध जाएगा। महावीर नग्न रहते थे। उनकी नग्नता कहाँ से आई थी? भीतर के भावों से, सम्यक् दर्शन से वह नग्नता आई थी। हमने नग्नता को भी एक बाना बना लिया। कहते हैं कि जब तक नग्न नहीं होंगे, तप नहीं हो पाएगा। कुछ लोग कहते हैं कि स्त्री की मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह नग्न नहीं हो

सकती। तो मुक्ति का सम्बन्ध क्या केवल नग्नता से है? केवल बाहर के परिवर्तन को ही सब कुछ मान लिया जाता तो शायद अब तक सारे के सारे लोग मुक्त हो जाते।

हम समझते हैं, हमने कपड़े पहन लिए तो हमारा नंगापन छिप गया। कपड़ों के भीतर तो नंगे ही हैं। और हमने भी कपड़े कहाँ पहन रखे हैं, कपड़े तो हमारे शरीर ने पहन रखे हैं। कुन्दकुन्द का आज का सूत्र बहुत क्रांति का सूत्र है। वे यही कहेंगे कि तुम बाहरी भूमिकाओं को अपने पर आरोपित कर रहे हो। जबकि तुम्हें अपनी मूर्छा को तोड़ना है, अपने परिग्रह को तोड़ना है। आज का वक्तव्य उस मूर्छा को तोड़ने की ही बात कहता है :

धम्मेण होइ लिंगं, एण लिंगमत्तेण धम्म संपत्ती ।

जाणेहि भावधम्मं, किं ते लिंगेण कायव्वो ॥

धर्म-सहित तो लिंग होता है, परन्तु लिंग मात्र से ही धर्म की प्राप्ति नहीं है। इसलिए तू भाव रूप धर्म को जान, केवल लिंग से क्या होगा ?

गुरु अपने शिष्य से कह रहे हैं 'भाई ! केवल लिंग से क्या होगा ? बाहर से अपने को सजा लिया, मगर जब तक भीतर की सुन्दरता नहीं होगी, बाहर की सुन्दरता बेकार है। धर्म सहित लिंग तो भीतर का लिंग है। बाहर से तो परिवर्तन होते ही रहेंगे। जब तक भीतर से परिवर्तन न होगा तब तक जन्म-जन्मान्तर की साधना के बावजूद वास्तविक परिवर्तन

नहीं होगा। साधु तो बन गए, तपस्या भी खूब करली मगर हाथ कुछ न लगा। केवल ऊपरी परिवर्तन पर ही सन्तोष करके बैठ गए तो हाथ खाली ही रहेगा।

दूर देश से एक महिला हिन्दुस्तान के किसी गाँव में किसी के यहाँ मेहमान बनकर आई। आतिथ्य-सत्कार की परम्परा का निबाह करते हुए मेजबान महिला ने उसे 'पूरण-पोली' बनाकर खिलाया। यह एक विशिष्ट व्यंजन है। वह बहुत प्रसन्न हुई और उसे बनाने की विधि पूछी। मेजबान महिला ने उसे बता दिया कि बेसन, आटा और पानी की मदद से इसे बनाया जा सकता है। वह महिला अपने देश पहुँची और पति से कहने लगी कि मैं एक नया व्यंजन बनाना सीख कर आई हूँ। आप अपने मित्रों को दावत दे आइए। उसका पति समझदार था, बोला—भाग्यवान पहले बनाकर तो देख ले। वह कहाँ मानने वाली थी। उसने कहा—अरे! बना तो रही ही हूँ, आप तो बस अपने मित्रों को निमन्त्रण दे आइए। बेचारा पति गया और मित्रों को सपरिवार भोजन के लिए कह आया। मित्र आ गए। महिला 'पूरण-पोली' बनाने बैठी तो उसके हाथों के तोते उड़ गए। वह पूरण-पोली बनाने की विधि तो भूल ही गई। उसने याद करना शुरू किया कि मेजबान महिला ने कैसे बनाई थी। उसे याद आया कि उस महिला ने सफेद साड़ी पहन रखी थी। इसने भी सफेद साड़ी पहन ली मगर पूरण-पोली फिर भी नहीं बनी। उसने फिर याद किया तो उसे याद आया कि वह

महिला गंजी थी। उसने अपने पति से कहा कि जाओ किसी नाई को पकड़ लाओ, फिर पूरण-पोली बनेगी। पति हैरान और परेशान। फिर भी बेचारा गया। जब वह नाई को लेकर आ रहा था तो उसकी पड़ोसन मिली। उसने पूछा कि नाई की कहाँ जरूरत पड़ गई। उसने सारा किस्सा सुनाया तो वह बोली—‘भाई साहब, भाभीजी उस व्यंजन के बनाने की विधि ही भूल गई होगी। बाहर से अब सफेद साड़ी पहनो या गंजी हो जाओ, कोई फर्क नहीं पड़ने वाला।’

बाहर की सजावट से कुछ न होगा। वास्तविक ज्ञान जरूरी है। इसकी शुरुआत तो हमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से ही करनी होगी। पानी खौल गया हो तो उसमें से उठने वाली भाप यह बता देगी। भीतर अगर परिवर्तन की क्रांति घटित हो गई तो वह चारित्र हमेशा शुद्धतम ही होगा। वह आरोपित न होगा। सम्भव है, वह शास्त्र में न मिले, मगर वह आत्मा की पुस्तक में जरूर मिलेगा। वह स्वयं के संविधान में से निकलेगा। कुन्दकुन्द कहते हैं असली लिंग तो धर्म-लिंग है और वह भीतर का लिंग है। बाहर का लिंग सहायक जरूर हो जाएगा मगर वह अधूरा ही रहेगा।

जो बाना पहन रखा है, उसका उतना मोल नहीं है जितना तुमने समझ लिया है। वह तो सिर्फ याद दिलाने के लिए है कि तुम कहाँ हो? और तुम्हारा स्थान कहाँ है?

लोग न पूजे, कोई बात नहीं। सिर के मुण्डत्व और वेश के सिद्धत्व की चिन्ता न करें। जो भाव-सिद्ध है और जो वेश-सिद्ध है उसमें यही तो फर्क है। वेश-सिद्ध होने से बाना बदल जाएगा, नाम बदल जाएगा, लोग पूज लेंगे। भाव-सिद्ध व्यवहार में पूज्यपाद न हो पाएगा, मुक्ति तो उसकी चरण सेवा जरूर कर लेगी।

एक साधु ऐसा है, मेरी नजर में वह साधु ही है, वह अनासक्त और निर्लिप्त जीवन जीता था। किसी ने मुझे पूछा, आपने उसे साधु कैसे कहा? कोई उससे नाम पूछता तो वह कहता अमरचन्द। वह तो अमरचन्द है। साधु हो तो नाम अमर सागर या मुनि अमर सागर होना चाहिए। किसी को साधु मानने के लिए नाम, बाना जरूरी समझते हो।

यह साधना तो भावनाओं से जुड़ी है। मूल तथ्य तो यही है कि हम भावनाओं के द्वारा जितना समृद्ध हो सकें, हो लें। उन्हें पवित्रतम बनाएं। भीतर से बदलाव पर जोर रखो। केवल बाहर से ही आरोपण जारी रखा तो होगा यही कि हाथी जाएगा तालाब में, नहाकर भी आएगा मगर आते ही अपनी सूंड में रेत भरकर अपने ही ऊपर उछाल लेगा। नहाना बेकार हो जाएगा। भावनाओं का स्नान तो ऐसा है कि मन चंगा तो कठौती में भी गंगा। इसलिए कुन्दकुन्द कहते हैं कि धर्म सहित तो लिंग होता है, परन्तु लिंग मात्र से ही

धर्म की प्राप्ति नहीं होती । इसलिए तू भावरूप से धर्म को जान, केवल लिंग से तो कुछ भी नहीं होगा ।

बगैर धर्म का बाह्य लिंग उल्टे घड़े पर पानी डालना है, गधे की पीठ पर चन्दन का लादा ढोना है । नींद खोलें भावों की । भाव-निद्रा से जगना ही धार्मिकता है, धर्म की वास्तविकता है । हृदय की आँखें मुक्त हो, पार चलें कुहरे के ।

८

सम्भावनाएँ आत्म-अनुष्ठान की

१२ अगस्त १९९१, ऋषिकेश

कुन्दकुन्द-सूत्र

गाणं चरित्त-सुद्धं,
लिंगगहणं च दंसण-विसुद्धं ।
संजम-सहिदो य तवो,
थोओ वि महाफलो होइ ॥

जीवन और अध्यात्म एक दूसरे से इस तरह जुड़े हुए हैं कि उन्हें अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। बिना अध्यात्म का जीवन कभी जीवन हो नहीं सकता और बिना जीवन का अध्यात्म जीवन्त नहीं हो सकता। अध्यात्म में दो शब्द हैं : अधि और आत्मा। इसलिए इसका अर्थ हुआ, जो फैलाव लिए है, आत्मा से जुड़ा हुआ है।

मनुष्य का सीधा सम्बन्ध एक मात्र मानवीय जीवन से है। मनुष्य स्वयं अपने आप में एक जीवन-मूल्य है। इसलिए जीवन बिना अध्यात्म हो ही नहीं सकता। 'जीवन' शब्द मूलतः 'जीव' से बना है। जीवन का सारा खेल जीव से ही है। जीव और आत्मा में फर्क है। यद्यपि जीव ही आत्मा है और आत्मा ही जीव, मगर इसमें थोड़ा फर्क है। जीव तो उसे कहा जाएगा जिसका संसार में आगमन जारी है और आत्मा उसे कहेंगे जो संसार से मुक्त हो चुका हो। इसलिए हम सब अपने आप को आत्मा होने के बावजूद जीव ही कहेंगे।

हम आत्मा तो तब बन पाते हैं जब विशुद्ध रूप से अध्यात्म और आत्मा का अनुष्ठान हो जाए। इसलिए जीवन-मुक्ति का नाम आत्मा है और जीवन-युक्ति का नाम जीव है। हम अपने जीवन के ताने बाने को देखें तो वे समान ही हैं। कहीं विकल्प के रूप में सीता धरती से पैदा हो जाए, या कोई परखनली से जन्म जाए वह अलग है, शेष के जीवन का स्रोत

तो एक ही है। सभी माँ की कोख से ही पैदा होते हैं। अवतार भी, तीर्थंकर भी, सभी कोख से ही जन्म लेते हैं। कहीं कोई फर्क नहीं। फर्क केवल विस्तार में है।

हम अपने जीवन के अतीत को पढ़ें, तो लगेगा जैसे कोई उपन्यास पढ़ रहे हों। जब कभी एकांत में बैठो तो जन्म से लेकर अब तक के इतिहास को पढ़ना। अतीत को साकार करने का प्रयास करना। जीवन के इस सफर में अनेक लोग मिले। कुछ लोग थोड़े दिन साथ भी रहे, मगर बाद में साथ छोड़ गए। कभी तो ऐसे महापुरुष मिल जाते हैं कि हमारा जीवन सफल हो जाता है। हम सन्तुष्ट हो जाते हैं। कभी पढ़ते-पढ़ते ही आँखें आँसुओं से भर जाएगी, कभी हर्ष होगा। उपन्यास पढ़कर भी ऐसा ही अनुभव होता है।

जीवन का अतीत पढ़ना जरूर, मगर अपने आपको उस अतीत से चिपका मत लेना। बीत गया सो बीत गया। रीत गया सो रीत गया। बीती बिसार देना, आगे की सुध लेना। अतीत की कमजोरियां निकालना और सोचना आगे जीवन में ये दुबारा न हों और अतीत में न जुड़ें। अतीत से चिपके रहे, तो सारी यादें मानसिक यंत्रणा बनकर रह जाएंगी और हम अपना वर्तमान भी कष्टमय बना लेंगे।

अतीत की यादें सुख देती हैं, तो कई बार पीड़ा का अहसास भी करवाती हैं। एक बात तो पत्थर पर खींची

लकीर जैसी है कि बीता समय लौट कर नहीं आता। रुठे हुए देव को प्रसन्न करना आसान है, मगर रुठे समय को मनाकर लाना, पत्थर में से पानी निकालने के प्रयास जैसा है। यह काम तो मुमकिन ही नहीं है। नदी में जो पानी बह गया, वह लौटाया नहीं जा सकता। हमें नए का इन्तजार करना ही पड़ेगा।

आदमी अपने वर्तमान और भविष्य के प्रति सचेत रहे, तो कहीं कोई भी परेशानी नहीं है मगर आदमी का सारा भुकाव अतीत की ओर है। वह स्मृतियों का मोह नहीं छोड़ पाता। इसलिए जब भी वह एकांत में होता है, वह वर्तमान के उपयोग और भविष्य के निर्माण के बारे में नहीं सोचता। वह केवल अतीत से जुड़ा रहता है। जो बीत गया, उन यादों में खोया रहता है। यह जानते हुए भी कि जो बीत गई सो बात गई, मगर आदमी भी क्या करे? वह अपनी भावनाओं पर नियंत्रण नहीं रख पाता और इसी कारण अतीत उसका पीछा नहीं छोड़ता। वह केवल अतीत के बारे में सोचता रहता है और यह सोच ही सम्मोहन का कारण बनता है।

कहते हैं, एक बार देवताओं में बहस छिड़ गई। राम और लक्ष्मण में जितना प्रेम है, उसकी तुलना नहीं की जा सकती। एक देवता को यह बात कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण लगी। वह राम के शरीर में प्रविष्ट हो गया। राम तुरन्त निष्प्राण हो, गिर पड़े। वैद्य ने कहा राम जा रहे हैं। लक्ष्मण हतप्रभ

हो गए। यह कैसे हो सकता है। लक्ष्मण राम के बिना जीवित नहीं रह सकता। यह कहकर लक्ष्मण ने भी अपने प्राण त्याग दिए। अब राम में प्रविष्ट देवता की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। अरे, ये क्या हो गया? और वह राम का शरीर छोड़कर भागा।

राम को होश आया तो पता चला कि लक्ष्मण ने प्राण त्याग दिए। राम ने विश्वास नहीं किया। उन्होंने लोगों से कहा—तुम भूठ बोलते हो। तुम तो उस वक्त भी भूठ बोले थे जब मैंने सीता को वनवास दे दिया था। इसलिए मैं तुम पर तो विश्वास नहीं करूंगा। मेरा लक्ष्मण मर ही नहीं सकता। राम लक्ष्मण के मुर्दा शरीर को उठाए-उठाए छः माह तक इधर-उधर घूमे ताकि किसी भी प्रयत्न से उनमें प्राण जीवित किए जा सकें। काफी समय बाद जब मुर्दा शरीर से दुर्गन्ध आने लगी तो एक साधक ने राम से कहा—‘प्रभु! आप तो अवतार कहलाते हैं। मैं जिस लकड़ी के सहारे चला करता हूँ, वह टूट गई है, आप इसे जोड़ दें।’ राम बोले—‘भाई टूटी लकड़ी भला जुड़ती है, तुम नई लकड़ी ले लो।’ वह साधक बोला—‘नई लकड़ी नहीं चाहिए, आप तो इसी को जोड़ दीजिए।’ राम ने समझाया—‘बाबा, टूटी लकड़ी कभी सांधी नहीं जा सकती।’ अब हँसने की बारी साधक की थी। वह बोला—‘तुम तो अवतार हो, तुम यह जानते हो कि टूटी लकड़ी नहीं सांधी जा सकती, फिर जीवन को सांधने की बात

कैसे करते हो ?' राम की आँखें खुली, अरे ! मैं क्या पागलपन कर रहा हूँ ।

पेड़ से पत्ता गिर चुका है । मनुष्य उसे पुनः पेड़ पर चिपकाने का प्रयास करता है । आदमी का यही सम्मोहन तो मिथ्यात्व है । वह अपने बीत चुके अतीत से जुड़ा रहना चाहता है । जब तक यह सम्मोहन रहेगा, वह वर्तमान से जुड़ नहीं सकता और वह आगे नहीं बढ़ सकेगा । दुर्योधन की राजसभा में भीष्म-पितामह जैसे देव-पुरुष, विदुर जैसे नीतिकार, गांधारी जैसी महासती माँ, द्रोण और कृपाचार्य जैसे धुरन्धर विद्वान थे, वहाँ भी रोजाना धर्म और नीति के वाक्य दुर्योधन पर असर नहीं कर सके और वह अधर्मी होता गया । असल में वह उन चीजों से जुड़ ही नहीं पाया ।

दुर्योधन कहा करता था—'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानामि धर्मं न च मे निवृत्तिः ।' मैं धर्म को जानता हूँ मगर उसमें प्रवृत्त नहीं हो पाता । मैं अधर्म को भी जानता हूँ मगर उससे निवृत्त नहीं हो पाता । इसका कारण है सम्मोहन । मुझे राज्य का राग, शत्रुता का राग नहीं छोड़ पाता । जहाँ व्यक्ति धर्म में प्रवृत्त नहीं हो पाता, वहीं सम्मोहन उसे घेरे रहता है । यदि कोई व्यक्ति मूर्छा में है, आप उसे नीति-ज्ञान की गंगा में नहला दीजिए, वह सूखा ही रहेगा । उसे धर्म की बात सुहाएगी ही नहीं । किसी को ज्वर ने जकड़ा

हो और हम उसे मिठाई खिलाएं, उसे अच्छी लगेगी क्या ?
फिर मूढ़ आदमी को धर्म कैसे सुहाएगा ।

मनुष्य के भीतर यह मूर्छा, कहीं ऊपर से आरोपित नहीं की गई है । यह उसके भीतर से ही आई है । कोई आदमी नशा करता है तो शराब पीता है । शराब के कारण उसे नशा आता है । नशा आदमी के भीतर नहीं था । उसने शराब पी और नशे को अपने भीतर आरोपित कर लिया । फिर वह नशा उसके सिर पर चढ़कर बोलने लगा । शराब पीकर आदमी गालियाँ बोलने लगा । ये गालियाँ शराब के कारण आई । आदमी सारे अपराध बेहोशी में करता है । होश हो तो अपराध नहीं हो पाएगा ।

एक शराबी रात में देरी से घर पहुँचा । नशे में धुत्त था । घर पहुँचकर बाहर लगा ताला खोलने का प्रयास करने लगा, मगर ताला उसे नजर ही नहीं आ रहा था । वह रोजाना देर से घर लौटता था इसलिए जाते समय घर के ताला लगाकर जाता था । उस दिन जब काफी देर तक उससे ताला नहीं खुल पाया तो उसकी खट-खट से जागी उसकी पत्नी ने ऊपर की खिड़की से भाँक कर कहा—क्या हुआ ? चाबी खो गई क्या ? दूसरी चाबी फेंकू ?' शराबी बोला—चाबी तो है, मगर ताला खो गया है । हो सके तो ऊपर से ताला फेंक दो ।

चाबी है, ताला भी है, मगर वह ताले में नहीं लग रही है। यह मूर्खा, सम्मोहन तोड़ने के लिए ही तो कुन्दकुन्द कहते हैं—

‘गाणं चरित्त सुद्धं लिंगगहणं च दंसण-विसुद्धं ।

संजम-सहिदो य तवो, थोओ वि महाफलो होइ ॥’

ज्ञान चरित्र से शुद्ध होता है और लिंग का ग्रहण दर्शन से शुद्ध होता है। तप यदि संयम-सहित हो तो वह थोड़ा होकर भी महाफलदायी होता है।

कुन्दकुन्द के वक्तव्य की पहली सीख तो यह है कि ज्ञान चरित्र से शुद्ध होता है, इसलिए चरित्र ज्ञान की कसौटी है। हम जिस चीज का पालन करते हैं, उसे जानना जरूरी है और जिसे जान लिया, उसका पालन करना जरूरी है। ज्ञान सत्य का आचरण है और आचरण का सत्य ज्ञान है। दोनों ही अनिवार्य हैं।

हमने जिस सत्य को जाना है, वह हमारे जीवन में भी घटित होना चाहिए। जिस चरित्र का हम पालन करते हैं, उसका हमें ज्ञान होना भी जरूरी है। पहले जानो, फिर करो। करने से पहले जानो ताकि करना जानने की कसौटी हो। इसलिए ज्ञान शुरुआत है, लेकिन चरित्र ज्ञान की कसौटी है। कितना भी जान चुके हो, ज्ञान प्राप्त कर लिया है, यदि इस ज्ञान को आचरण में नहीं उतारा तो वह ज्ञान खोखला है। जानकर भी अधूरे रहे। ज्ञान जीवन में कहाँ उतरा !

पहली कक्षा में पढ़ा। सुबह उठते ही परमात्मा की अर्चना करनी चाहिए। माता-पिता को प्रणाम करना चाहिए। झूठ नहीं बोलना चाहिए। मगर लोग ऐसा नहीं करते। न तो नमस्कार करते हैं और न ही प्रार्थना। झूठ तो बोलते ही हैं, चोरी भी कर लेते हैं। पहली कक्षा का ज्ञान भी हमारा नहीं बन पाया। हम भले ही कह दें कि हमने एम. ए. कर लिया। हमें दुनिया के बारे में यह बात मालूम है, यह हमें आता है। यह सब बेकार है। अभी तक तो उन्हें पहली कक्षा का ज्ञान भी नहीं हो पाया है। जो ज्ञान हमें एम. ए. से एम ए एन (मैन) बनाए, वही ज्ञान है।

द्रोण ने युधिष्ठिर सहित सभी से कहा कि कल याद करके आना कि 'क्षमा सबसे बड़ा धर्म है।' अगले दिन सभी बच्चे आए और पाठ ज्यों-का-त्यों सुना दिया। द्रोण ने युधिष्ठिर से पूछा तो उसने इन्कार कर दिया। द्रोण को गुस्सा आ गया। उन्होंने दो बेंत जमा दी। अगले दिन द्रोण ने पुनः पूछा—'पाठ याद करके आए?' द्रोण हैरान रह गए जब युधिष्ठिर ने इन्कार में सिर हिलाया। द्रोण ने दो बेंत और जमा दी। ऐसा सात दिन तक चला। आठवें दिन युधिष्ठिर ने कहा—'आज मुझे पाठ याद हो गया है कि क्षमा सबसे बड़ा धर्म है।' द्रोण ने कहा—इत्ती-सी बात याद करने में तुझे आठ दिन लग गए। युधिष्ठिर बोला—गुरुदेव! सात दिन तक आपकी बेंत खाकर मैं मन में मनन करता रहा कि मुझे आपकी बेंत खाकर गुस्सा आता है या नहीं। पहले

तीन-चार दिन तो मुझे गुस्सा आया, फिर मैंने पाया कि मेरा गुस्सा न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। अब आप मुझे कितनी भी बेंत मारें, मुझे गुस्सा नहीं आता। मैं जान गया हूँ कि क्षमा ही सबसे बड़ा धर्म है। पाठ तो उसी दिन याद हो गया था। मगर मैंने इन आठ दिनों में अपने ज्ञान को आचरण की कसौटी पर कसा। अब मैं इस पाठ को अपने भीतर उतार चुका हूँ।

ज्ञान जब तक आचरण की कसौटी पर खरा न उतरे, वह अधूरा ही रहेगा। इसलिए कहा गया है कि चरित्र ही ज्ञान की कसौटी है।

आप अपने घर पर अलमारी में चाहे जितनी किताबें भर कर रख लो। वे केवल किताबें रहेंगी, भीड़ होगी, मगर उनका ज्ञान हमें तभी हो पाएगा; जब हम उन्हें पढ़कर अपने आचरण में उतारेंगे। किताबों का ज्ञान हमारे आचरण में उतरेगा, तभी वे किताबें हमारी हो पाएंगी, नहीं तो वे किताबें अलमारी की रहेंगी। कमरे की सजावट मात्र बन कर रह जाएंगी। हमारी किताब तो वह होगी जो हमारी जिन्दगी में बोलेंगी। किताबें लाकर केवल अलमारी भरने से अगर ज्ञान हो जाता तो, हर कोई ज्ञानी हो जाता। आपने वो कहावत तो सुनी ही होगी। किसी चूहे को कहीं से हल्दी का गांठिया मिल गया और वह पंसारी बनकर बैठ गया। एक आदमी अपनी दूकान कपड़े के थान से सजाता है। एक आदमी

खिलौने लाकर अपना कमरा सजाता है। अलमारी में किताबें लाकर रखना भी ऐसा ही है। वो केवल सजाना हुआ। किताब तो अपनी वही होगी जो हमारे भीतर उतर चुकी हो। शास्त्र वही हमारा है, जो हमारे जीवन का संगीत बन चुका हो।

चरित्र ज्ञान की परख है। ज्ञान सत्य का आचरण होना जरूरी है और जिसका आचरण कर रहे हो, उसका ज्ञान होना भी जरूरी है। इसके बाद कुन्दकुन्द दूसरा चरण पकड़ते हैं। लिंग का ग्रहण दर्शन से शुद्ध होता है। लिंग का अर्थ है 'चिह्न'। कमण्डल, त्रिशूल, दण्ड, पिच्छी, कोई भी पोशाक लिंग है। मगर लिंग की शुद्धता, चिह्न की शुद्धता तो आखिर दर्शन से है।

तीसरी चीज बड़ी महत्त्वपूर्ण है। कुन्दकुन्द कहते हैं— तप यदि संयम सहित हो तो वह थोड़ा होकर भी महाफल रूप होता है। यह चीज ध्यान से समझने की है। लोग तप करते हैं, संयम करते हैं। तप और संयम में फर्क है। संयम पहली कसौटी है और तप उसका अगला चरण। संयम से ही तप की शुरुआत होती है और संयम पर ही तप का समापन होता है। यात्रा संयम से शुरू होती है और वहीं जाकर समाप्त होती है।

लोग उपवास भी सच्चे मन से नहीं करते। आज अगर उपवास है तो एक दिन पहले इतना खा लेंगे कि पेट भरा

रहेगा और उपवास के दिन भूख नहीं सताएगी। आदमी ठूस-ठूस कर खा लेगा। कल भूखा जो रहना है। ऐसा उपवास फलदायी न होगा। आज ठूस-ठूस कर खा रहे हो। कल उपवास करोगे और परसों पारणो वाले दिन भी जम कर खाओगे। यह उपवास नहीं हुआ। उपवास का अर्थ है, आहार के प्रति आसक्ति कम करना। मगर हमारी आसक्ति समाप्त कहाँ हुई! उपवास का अर्थ केवल आहार का त्याग करना ही नहीं होता अपितु, आहार के प्रति जो हमारी आसक्ति है, उसे भी समाप्त करना है। उपवास करके भी दूसरे दिन दस चीजें खाते हो तो समझ लो हमारा तप अभी तक कसौटी पर खरा नहीं उतर पाया। जब तक संयम नहीं होगा, उपवास करने का कोई औचित्य नहीं रहेगा। हम उपवास भले न करें, मगर आहार के प्रति अपनी आसक्ति कम कर लें, हमारा उपवास हो जाएगा।

भोजन करने बैठो तो यह मत देखना कि कौनसा मीठा है और कौनसा तीखा। जो प्राप्त हो जाए, उसे प्रेम से अनासक्त भाव से स्वीकार करना। यह हमारा उपवास हो जाएगा। उपवास का एक और अर्थ है—आत्मा के पास रहना। आत्मा के समीप तभी आ सकोगे जब आहार के प्रति हमारी आसक्ति और तृष्णा समाप्त हो जाएगी। उपवास भी दो तरह का होता है। एक मन का, दूसरा शरीर का। इसलिए शरीर से यदि उपवास न कर पाओ तो मन से कर लेना। जब भी कषाय की भावना उत्पन्न हो उसे मिटाने का

प्रयत्न करना । रात में सोने से पूर्व संकल्प करो । कल मैं एक बार भी क्रोध न करूंगा । यह हमारे कषाय का उपवास हुआ । शरीर और आत्मा के बीच लगातार युद्ध चलता है । इस युद्ध विराम का नाम ही उपवास है ।

हम उपवास करें और क्रोध भीकरें, यह ठीक नहीं होगा । एक भाई ने तीस दिन उपवास किए । तीसवें दिन वे हमारे पास आए । अगले दिन उन्हें पारणा करना था । उनके साथ काफी भीड़ थी । मैंने पूछ लिया—आपने तीस दिन उपवास किया, क्या आपके साथ आपके परिजन भी आए हैं ? वह बोले—हाँ ! ये जो मेरे पास बैठे हैं, मेरे अनुज हैं । उनसे पूछा गया, क्यों भाई ! आपने कितने उपवास किए ? वह बोला—मैं भूखा नहीं रह सकता । उनके जाने के बाद वहाँ खड़े एक सज्जन ने मुझे बताया—महाराज ! आप नहीं जानते । दोनों भाइयों के बीच हमेशा भगड़े चलते रहते हैं । भगड़े के कारण ही इनकी फैक्ट्री पर ताला लगा हुआ है । आप इनका मेल करा सकें तो पुण्य का काम होगा । मैं एक दिन छोटे वाले भाई के घर गया और उसे समझाया कि भाई क्यों आपस में लड़ते हो ? लड़ाई के कारण तुम्हारी फैक्ट्री बन्द पड़ी है, तुम्हारी खुशहाली पर लगा ताला खोल क्यों नहीं लेते ? जाओ, अपने भाई के खिलाफ न्यायालय में चल रहा मुकदमा वापस ले लो । वह मान गया । वह बोला—‘मैं अपने भाई के तीस उपवास करने के उपलक्ष में यह घोषणा करता हूँ कि मैं उनसे जाकर माफी माँग लूँगा ।’ अब वह बड़े भाई

के पास गया और यही बात उससे कही और माफी माँगने के लिए अपना सिर झुका लिया मगर वह तपस्वी अड़ा रहा। मैंने छोटे भाई से कहा—उपवास किये बड़े भाई ने, पर फल के भागी तुम बने।

मन से की गई तपस्या, तन की तपस्या से अधिक असरकारी है। तपस्या अपनी इच्छाओं पर विजय के लिए की जाती है इसलिए व्यक्ति भोजन करते हुए भी तपस्वी हो सकता है। तप-संयम को भोजन के त्याग मात्र से जोड़ने की भूल न करिएगा। तप-संयम के पीछे की मूल भावना को देखो। तन और मन, दोनों से तपस्या हो तो वह फलदायी होती है। आहार के प्रति आसक्ति कम करना ही तपस्या की शुरुआत है। आहार आनन्दपूर्वक करें, आसक्तिपूर्वक नहीं।

केवल तप से गाड़ी पार लगे, यह सम्भव नहीं है। बगैर संयम के तप भी कषाय-वर्धक हो जाता है। तप से कषाय-क्रोध कम होते हो या इच्छाओं का निर्मूलीकरण हो, ऐसा व्यवहार में देखने में नहीं आता। बड़े-बड़े तपस्वियों को क्रोधित पाओगे। ऐसा क्यों? मैं तो यही कहूँगा कि संयम की पहली सीख न ली। तन को मारा, मन को न जीता, तो वह तप 'तप' नहीं, वरन् ताप है। संयमपूर्वक किया गया थोड़ा-सा तप भी महाफलदायी होता है।

इसलिए कुन्दकुन्द की साधक-सन्तों को यही सलाह है कि चारित्र्य को ज्ञान से शुद्ध करो और लिंग को सम्यग् दर्शन से। संयम को जीवन में पहले लाओ और फिर तप में प्रवृत्ति

बनाओ। कर्त्तव्य-पथ पर चलते समय आने वाली अनुकूल-प्रतिकूल—हर परिस्थिति के प्रति शान्त मन रहो, प्रसन्न चित्त रहो, यही तप की वास्तविकता है। आत्म-सत्य को जानना, आत्म-सत्य में रमण करना ही सबसे बड़ा तप है।

भगवत्ता हमारी मौलिक सम्भावना है। संसार में जहाँ कहीं भी चैतन्य-ऊर्जा है, वहाँ भगवत्ता की पूर्ण सम्भावना है। चैतन्य की परम प्रकाशमान दशा ही हमारी भगवत्ता है। हर कोई उसी भगवत्ता की ओर बढ़ रहा है। आज नहीं कल, कभी-न-कभी अवश्य सब भगवत्ता पाएँगे। आत्म-पूर्णाता प्राप्त करना ही दुनिया के मेले में भगवत्ता का महोत्सव है। कुन्दकुन्द से मदद लो और अपनी भगवत्ता के मार्ग पर बढ़ चलो। निमन्त्रण है, स्वागत है, शुभकामनाएँ हैं।

प्रणाम है सबको, सबकी भगवत्ता को।

भगवत्ता फैली सब ओर

कुन्दकुन्द को कैसे धन्यवाद दूँ, जिसकी भगवत्ता सब ओर फैली है। यह भगवत्ता आत्मा का सौभाग्य है। बिना कुन्दकुन्द के अध्यात्म की बातें सूनी-सूनी लगती हैं। कुन्दकुन्द ने जिया है अध्यात्म को, प्यास बुझाई है जन्म-जन्मान्तर की। इसलिए उनका अध्यात्म हृदय-मन्दिर का हंसता हुआ प्रकाश है। उनके वक्तव्य कल तो जीवित थे ही, उसकी धार आज भी रसीली है। अपना हृदय लाओ, पंडिताई नहीं, ताकि कुन्दकुन्द को सुनना अनायास जीवन-क्रान्ति हो जाए।

— चन्द्रप्रभ